जैनेन्द्र-साहित्य [१३]

जैनेन्द्र की कहानियाँ

[द्वितीय भाग]

['पाजेब', 'दो चिड़िया', 'अपना-पराया'
और अन्य कहानियाँ]

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९५३

मूल्य
साढ़े तीन रुपए

पूर्वोदय प्रकाशन, ७ दरियागंज, दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार
द्वारा प्रकाशित और न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में मुद्रित

प्रकाशक की ओर से

बालकों का स्वभाव और उसके प्रति अपनी परिस्थितियों में ग्रस्त माता-पिताओं या अभिभावकों का व्यवहार जब आपस में सन्तुलित नहीं होते, एक-दूसरे को नहीं समझते तो अनेक समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। मानव-प्रेम का वात्सल्य-भाव सब में है, किन्तु सब उसे ठीक से समझते नहीं। उसे कलाकार की अन्तर्दृष्टि ही देख-समझ पाती है। मानव-मन के इस यथार्थ को उद्घाटित करने वाली प्रस्तुत संग्रह की अठारह कहानियाँ इसी अन्तर्दृष्टि के आलोक से आलोकित हैं।

इस संग्रह में 'पाजेब' और 'दो चिड़िया' कहानियाँ भी हैं जिनके नाम से पहले दो अलग-अलग कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए थे। 'दो चिड़िया' कहानी-संग्रह की भूमिका-स्वरूप लेखक ने कहानी के विषय में 'पाठकों से' लिखा था—

"....पाठक मुझ से और हिन्दी के और लेखकों से माँग करें

कि वे जीवन की अधिक गहराई की, जी को अधिक छूने वाली चीज़ें दें। नहीं तो अपनी जगह छोड़ें।"

जैनेन्द्र की ये कहानियाँ कला को जीवन की अधिक गहराई की ओर ले जाने का सजीव प्रमाण हैं।

क्रम

		पृष्ठ
अनन्तर		१
इनाम		११
पाजेब		२०
आत्म-शिक्षण	...	४१
फोटोग्राफी	...	५५
खेल	...	६६
किसका रुपया	...	७७
चोर	...	६०
अपना-अपना भाग्य	...	६६
तमाशा	...	११०
दिल्ली में	...	१५०
जनता में	...	१६५
दो चिड़िया	...	१७७
पढ़ाई	...	१८२
राज-पथिक	...	१६४
अपना-पराया	...	२०२
बिल्ली-बच्चा	...	२१२
रामू की दादी	...	२२१

अनन्तर

जिनको परम आदरणीय मानते आये थे उन्हीं को हम बहुत-से जन मिलकर अभी फूँक-फाँक कर लौटे हैं। बाँस की अर्थी पर उनकी देह को कस कर बाँधा और कन्धों पर लिये-लिये जलूस में हम तेजी से चलते चले गये, लकड़ी के ढेर में उसे रक्खा, आँच दिखायी और राख कर दिया। सारे रास्ते भर हम पुकारते गये थे—'राम नाम सत्य है, राम नाम सत्य है!' मानों राम के नाम के सत्य के आगे मौत झूठ हो जाती हो। मानो नियति के आघात पर वह हमारा एक उत्तर हो।

मैं घर आ गया। रोना-कलपना थमा था। एक सन्नाटा मालूम होता था। माँ चुप थीं, और जिधर देखतीं, देखती रह जाती थीं।

मैंने कहा, "माँ उठो। चलो, बालकों को कुछ देखो-भालो, वे भूखे हैं।"

माँ ने मुझे देखा। जैसे वह कुछ समझी नहीं हैं। माफी चाहती हैं कि भाई, मुझे कुछ सुनता नहीं है; माफ करना, मुझे कुछ सूझता नहीं है।

मैंने पास पहुँचकर कहा, "माँ, हम किस दिन के लिए हैं। और बालक छोटे हैं, उनके लिए अब तुम्हीं तो हो।"

माँ ने इस बात को सुना। सुनकर क्या समझा? वही फटी आँखों से देखती रहीं। फिर हठात् स्वस्थ होकर कहा, "हाँ, चलो। चुन्नू बेटा, इधर आ। ऐसा क्यों हो रहा है! मैं अभागिन तो अभी हूँ। आ मेरे बेटे!"

चुन्नू चौदह बरस का था। मुँह लटकाये सब की आँखों को बचाना चाह रहा था। वह अकेला था और इधर-उधर घूम रहा था। उसे जाने कैसा लग रहा होगा। नाते-रिश्तेदारों से दूर-दूर रह रहा था। माँ जब कपार पर दोहत्थड़ मार कर रो रही थीं तब इस चुन्नू ने उन्हें अपने गले लगा कर समझाया था। अब माँ स्वस्थ हुईं तो जैसे मुश्किल से उसके आँसू रोके रुक रहे थे।

"आ बेटे, यहाँ आ। बाप नहीं, पर माँ तो है। यहाँ आ, बेटे!"

चुन्नू बरामदे की टीन के नीचे खड़ा परली तरफ सूने में देख रहा था। वह काफी देर से खड़ा था। अब उसने दोनों हाथों में मुँह ढका और बैठकर बिसूरने लगा।

यह देख माँ झपटी आयीं और उसे अंक में भर कर बोलीं, "क्यों रोता है बेटे, तेरे बाप तो सरनाम होकर गये हैं। सब के मुँह पर उनका नाम है। ऐसे भाग्य पर क्या रोया जाता है, बेटे?"

चुन्नू माँ के कन्धे से लग कर अब फफक उठा। माँ भी रो आयीं। आँसू गिराती जाती थीं और समझाती जाती थीं: "बेटा तुझे क्या फिकर है। किसका बेटा है यह तो याद कर। उन्होंने कैसी मुसीबतें सहीं, पर क्या मन कभी कच्चा किया। उनका बेटा होकर तू मन कच्चा करता है। मैं हूँ, तब तुझे कोई फिकर नहीं।

आज तेरे बाप को दुनिया रो रही है। ऐसे कितने भागवान जनमते हैं ? उसी का बेटा होकर तू रोता है !"

कहते-कहते माँ अवश भाव से फूट उठीं और बच्चे की हिचकी बँध आयी।

मैंने पास जाकर माँ को खींच कर अलग करते हुए कहा, "माँ, क्या कर रही हो। चलो उठो, चुन्नू, ओ चुन्नू, चल उठ। हाथ-मुँह धोकर आ और कुछ पानी-वानी पीले, सबेरे से भूखा है ! तुझे काहे का सोच है। चल उठ।"

पर इस प्रसंग को छोड़िये। ज्यों-त्यों दिन कटा। दिन तो कटता ही है। कोई मरे पर जीने वाले को जीना काटना है। बिलखो तो, हँसो तो। होते-होते शाम आ गई। जग धुँधला हो चला। सब के मन भारी थे। आये चले गये। घर में बस घर के रह गये थे। कह लो तो मुझे ही बाहरी कह लो। पर मैं अपने से ज्यादा इस घर का था। इसे समझाता, उसे बहलाता, घर के कामों को सम्भार रहा था। काम तो कोई रुकता नहीं। साँस है तब तक साँसत है। रंज में रहोगे और खाना-पीना भूल जाओगे तो कब तक ? कुछ और काम भूल जाओगे तो कब तक ? समय तो रुकता नहीं। और काम जब कोई रुकता है तो वही बाद में सिर पर बोझ बना खड़ा दिखाई देता है। और कोई विशेष घटना घटती है तब तो काम बढ़ ही जाता है चाहे कभी फुर्सत हो, तब फुर्सत नहीं मिल सकती। और रंज भी एक काम है जिसके लिए फुर्सत चाहिये।

रात हो आयी। दिन की दे-ले निबटी। अँधेरा ऊपर से उतरने लगा। वह अँधेरा अनजाने जैसे चारों ओर छा आया। क्या अँधेरा अभाव ही है ? पर उस अँधेरे में अपना रूप था। उसमें

एक भाव था। वह मानों मित्र की भाँति हमें गोद में ले लेना चाहता था।

दस बज गये, ग्यारह बज गये। मैंने कहा, "माँ सोश्रो। चुन्नू, अरे सोता क्यों नहीं ?"

चुन्नू अपनी खाट पर बैठा था। वह सो नहीं रहा था। अँधेरे में एक ओर धीमी लौ से जलती लालटेन रक्खी थी। वह भरसक दूर थी। इस अँधेरे में चुन्नू क्या देख रहा था। चौदह बरस की उम्र, नवें में पढ़ता है। क्या वह सोच रहा था कि उसके बाप का क्या हुआ। लेकिन दुनिया में कौन बतायेगा कि उसके बाप का क्या हुआ ?

मैंने जोर से कहा, "चुन्नू क्या बैठे हो ! सोते क्यों नहीं ?"

चुन्नू ने मेरी तरफ देखा, जैसे सहमा हो, और चुपचाप खाट पर लेट रहा।

मैंने कहा, "और माँ, तुम क्यों बैठी हो ? सो जाओ।"

माँ ने कहा, "सो जाऊँगी, बेटा।"

मैंने खाट पर जाकर अपने हाथों से लेकर उन्हें लिटा दिया। गिनती की हड्डी थीं। बोझ नहीं के बराबर था। फिर भी साहस बाँध जिये जाती थीं। चुन्नू के बाप की बीमारी में इन्होंने कुछ नहीं बचाया। धन बहाया और तन भी बहा दिया। इसमें ऐसी हो गयीं। बीमारी ने भी एक बरस खींच लिया। मैंने कहा, "माँ, अब सोश्रो।"

माँ ने कहा, "सोने जाती हूँ। पर पराये दुख में तुम क्यों दुख पाते हो। भैया जाओ, अब तुम आराम करो।"

मेरा मन भीग आया। मैंने जान लिया कि मैं पराया नहीं हूँ, तभी मेरे दुख का यहाँ इतना खयाल है। मैंने कहा, "माँ, यह तुम्हारे

ऊपर है कि बच्चों को पता न चले कि उनके बाप नहीं रहे। इस लिए तुम सो जाओ, ताकि तन्दुरुस्ती बच्चों के खातिर तुम्हारी बनी रहे। तुम खुश न दीखोगी तो बच्चे कैसे खुश दीखेंगे।"

माँ मानों सब समझती थीं। बोलीं, "हाँ बेटा, अब तुम जाकर आराम करो।"

माँ को चुप लेटा छोड़कर मैं खाट पर आ रहा। अँधेरा गहरा होता जाता था। सर्दी अधिक थी। सामने तारे दीख रहे थे। बाहर चुंगी की बत्ती ठिठुरती हुई जल रही थी। उसकी रोशनी आसपास में सिमटी थी और काँप रही थी। अब नगर सुनसान होता जा रहा था। मैंने कोशिश की कि मैं सो जाऊँ और कुछ न सोचूँ। मैंने कुछ नहीं सोचा, लेकिन नींद मुझे नहीं आयी। कुछ चारों तरफ भरा मालूम होता था। वह जम कर भारी होता जा रहा था। एक तरफ लालटेन जल रही थी। मैंने उसे और दूर कर दी, मद्धम भी कर दी। ऐसी दूर और मद्धिम कि चारों ओर और कुछ न रहा। पीला अँधेरा रह गया, जो पेट में काला था। लालटेन रखकर मैं दबे पाँव खाट पर आ रहा। आकर बैठ गया। फिर बैठ कर लेट गया। माँ क्या सो सकी हैं? और चुन्नू क्या कर रहा है? क्या वह सो नहीं गया? मैंने धीमी साँस कहा, "अम्मा!"

आवाज का कोई उत्तर नहीं मिला। सोचा, आँख लग आयी होगी। चलो अच्छा है। थोड़ी देर मैं चुपचाप लेटा रहा। अनन्तर उठकर दबे पाँव जाकर देखा। चुन्नू की आँख लग गयी है। माँ अपनी खाट पर ज्यों-की-त्यों चुप लेटी हैं। न हिलती है न डुलती हैं। सो ही गयी होंगी। मैंने चैन की साँस ली।

बाहर आकर देखा। आसमान में तारे भरे थे, चाँद नहीं था। वे तारे कितने थे? मैं थोड़ी देर देखता रहा? हवा ठंडी

आती थी। रोक कहीं न थी। विस्तार था और विस्तार। बस मैं था और शून्य था। तारे थे, जो शून्य को और शून्य, और मुझ एक को और अकेला बनाते थे।

इस निपट सूने में चुन्नू के पिता कहाँ खो गये हैं। कल क्या था, आज क्या है? पर यह शून्य तो वैसा ही रहता है। रात को काला, दिन को उजाला, और हमेशा रीता। मैंने मन-ही-मन आतंक से भरकर इस शून्य को प्रणाम किया। मेरा अस्तित्व जिसका नकार है; मैं खुद होकर जिसे कभी न मान सकूँगा उसी के प्रति मैंने रोम-रोम से कहा कि 'हे चिर शून्य, नकार द्वारा मैं तुझे प्रणाम करता हूँ। तू अँधेरा है, चुन्नू के बाप को तू नहीं दिखा सकेगा। न तू दिखा सकता है, न दीख सकता है। पर तमाम इतिहास और तमाम काल और समूचा विस्तार जिस तुझ में नेति हो जाता है, हे महाशून्य, उसी तुझ को मैं ना कहकर प्रणाम करता हूँ। तू नहीं है, चुन्नू के बाप भी तुझ में होकर नहीं है, हम सभी एक रोज तुझ में होकर नहीं होंगे। सो सब-कुछ को नकार कर देने वाले हे सुनसान के मौनी, मैं नहीं ही मानकर तुझे प्रणाम करता हूँ।' कब मैं लौटा? लौट कर खाट बिछा कर चाहा सो जाऊँ। पर नींद आती नहीं थी। सोचा, चलूँ, चुन्नू के गले लग कर थोड़ा रो देखूँ। सवेरे से रो नहीं सका हूँ। काम की भीड़ में उसका मौका नहीं मिला। आज मैं चुन्नू क्यों न हुआ कि खुलकर रोता और सो जाता। उस समय उठकर मैं चुन्नू की खाट तक गया। वह सो रहा था। उसका एक हाथ थोड़ा करवट में दब गया था। दूसरा तकिये पर पड़ा था। मेरा जी हुआ उस हाथ को हाथ में लेकर कहूँ 'चुन्नू भैये राजा, हम तुम एक हैं।' कहूँ, और फिर हम दोनों गले लगकर रो लें। मैं धीमे से उसके सिराहने बैठकर उसे देखने लगा।

कैसा भोला चेहरा मालूम होता था। मैंने आहिस्ते से उसके हाथ को चूमा। वह सो रहा था, सोता ही रहा। मैं अचक पाँव चला आया।

खाट पर लेटे-लेटे क्या मुझे नींद आ गयी। शायद। पर वह रात जैसे महाकाल की ही रात थी। सारी रात गूँज ही गूँज सुनता रहा, 'राम नाम सत्य है, राम नाम सत्य है।' कितनी अर्थियाँ उस रात निकलीं मानों वह रात शव-यात्राओं के लिए ही थी। कितनी न जाने ऐसी यात्राएँ निकलीं और कितने यात्री हर एक के साथ पुकारते जाते थे, 'राम नाम सत्य है।' मानों इस राम के नाम-रूप सत्य को अपने प्रियजन की जान देकर उन्होंने अभी पाया हो और चिल्लाकर उसे मौत के कानों तक पहुँचा देना चाहते हों।

"अरे भाइयो, बोलो, 'राम नाम सत्य है!' जोर से बोलो जोर से।"

देखता हूँ कि सामने जो अर्थी का जुलूस जा रहा है, उसी में से सहसा एक आदमी ने हाथ फेंक कर कहा।

इस पर लोगों ने जोर से गुँजारा, "राम नाम सत्य है!"

उस आदमी का सिर घुटा हुआ था। उसे उन्माद प्रतीत होता था। उसने कहा, "धीमे नहीं, जोर से बोलो। बोलो 'राम नाम सत्य है!' लोगों ने जोर से पुकारा 'राम नाम सत्य है!"

उस आदमी का चेहरा डरावना मालूम होता था। मुझे प्रतीत हो गया कि अर्थी पर जिस स्त्री का शव है वह उसी की पत्नी थी।

उस आदमी ने आवेश से कहा, "भाइयो, धीमे न पड़ो; बोलो 'राम नाम सत्य है!" लोगों ने भरसक जोर से कहा, "राम नाम सत्य है!"

मैं उस गूँज पर सहम-सा आया। इतने में देखता हूँ कि वह

आदमी मुझे ही देख रहा है। मुझे डर लग आया। देखते-देखते उसकी माथे की नसें फूल आयीं। आँखों से चिनगारी छुटने लगी। क्या वह मुझे निगल लेना चाहता है। उसका आकार बड़े पर बड़ा होने लगा। वह दानव-सा लगने लगा। भय के मारे मैं... इतने में उसने मेरी ओर देखा और चीख कर कहा, "पकड़ लो इसे, यह आदमी हँसता है!" वह मुझे पकड़ने को बढ़ा। और कई भी उसके साथ बढ़े। वे दैत्य बन आये। मैंने भागना चाहा, पर भागा गया नहीं। पैर पत्थर थे और मैं हिल भी नहीं सकता था।

"यही है। हँसता है, इसे बाँध लो।"

वे इतने पास आ गये जैसे सिर पर। मेरी साँस धौंकनी-सी चल रही थी। हाय...मैं..

आँख खुली तो देखा मैं पसीने-पसीने हो रहा हूँ। कहीं कुछ नहीं है, सब सुनसान है। मैंने पसीना पोंछा और अपने मन की कमजोरी पर हँसा। कुछ दीखता नहीं था। पर धीमे-धीमे आँखों ने चीन्हा कि अँधेरे में मिली-सी माँ खाट पर सीधी बैठी हैं।

मैंने कहा, "माँ!"

माँ न चौंकीं, न बोलीं।

"तुम जाग रही हो?"

माँ धीरे से बोलीं, "नहीं।"

"क्या बजा होगा?"

"दो बजे होंगे।"

मैंने कहा, "और तुम बैठी हो!"

बोलीं, "अभी उठी थी।"

मुझसे रहा न गया। खाट पर पहुँचकर उनके हाथ को हाथ में लेकर मैंने कहा, "माँ ओ माँ!" माँ ने मुझे कुछ कहने न दिया।

बोलीं, "तू क्यों जाग रहा है, भाई ? जाकर सो न जा, मुझे भी सोने दे।" कह कर आप ही चुप-चाप खाट पर लेट गयीं।

मैंने कहा, "मैं जानता हूँ तुम जागती रही हो। ऐसे कैसे होगा, माँ।"

"अब मैं बेटा किसके लिए जागूँगी !" कह कर माँ ने दूसरी ओर करवट लेली; फिर आगे वह नहीं बोलीं।

मैं सुन्न, कुछ देर खाट की पटिया पर बैठा ही रहा। दीखने को अँधेरा सुनसान था, और सुनने को भी वही। माँ की साँस मानों उसी अतल गर्भ में से आती लगती थी। धीरे-धीरे प्रतीत हुआ वह सम पर आ रही है। तब मैं अपनी जगह आ गया। आकर लेट रहा। पर नींद न आयी थी, न आयी। बार-बार जग पड़ा था। दूर कहीं तीन बजे का घंटा सुनकर मेरी आँखें फिर खुल गयीं। जग कर देखता क्या हूँ कि माँ वहीं खाट पर अँधेरे में मिली प्रश्नचिन्ह की भाँति, उठी बैठी हैं।

आँखें मलीं, और देखा, हाँ, खाट पर वहीं बैठी हैं।

मन के भीतर का हाहाकार गुल्म बन कर उठता कंठ की ओर आया। गुस्से में भर कर मैं बोला, "माँ तुम रात भर जागती ही रहोगी क्या ?"

डरी हुई-सी माँ बोलीं, "आँख खुल गयी थी बेटा।"

मैंने डपट कर कहा, "सो जाओ।"

बोलीं, "अच्छा बेटा।"

और बोलते के साथ ही खाट पर चुपचाप-सी लेट गयीं।

पर दस मिनट लेटी न रही होंगी कि फिर बैठ गयीं। उन्होंने मुझे सोया जाना होगा। इस बार मुझ से कुछ-कहते कुछ-करते न बना। वह अँधेरे में क्या चाहती थीं, क्या सोचती थीं ?

उधर से आँख फेर कर अँधेरे में ऊपर छत में आँख किये पड़ा रहा, सोचता रहा, लेकिन सोचता भी नहीं रहा। ऐसे कब झपकी आ गयी पता नहीं। लेकिन चार का घंटा साफ कान में आकर बजा।

आँख खुली। मुँह फेरा। देखता क्या हूँ कि माँ उठती हैं। सधी और दुबली देह। जाकर लालटेन उठाती हैं और लिये-लिये घर के काम-काज में लग जाती हैं।

देखा और मैंने कस कर आँख मीच लीं। फिर जा सोया तो उठा कहीं जाकर साढ़े आठ बजे। पाता हूँ कि सिर पर खड़ी माँ कह रही हैं, "यह सोने का वक्त है, रे चल उठ, मुँह हाथ धोके आ, नहीं तो तेरा दूध ठंडा हो रहा है।"

उठके देखता हूँ कि चुन्नू माँ के सामने बैठा दूध पी रहा है। चुन्नू ने कहा, "उठिये, भाई साहब।"

मैंने खाट से झटपट खड़े होकर कहा, "लो, अभी आया।"

इनाम

क़स्बे के हाई स्कूल के हाते में लड़के इधर-से-उधर घूम रहे हैं। चहल-पहल है, उत्साह है, क्योंकि नतीजा निकलने वाला है। देर सही नहीं जा रही है और कमरों के अन्दर बंद बैठे बड़े मास्टर लोग मानो ख़ास इसी लिये देर लगा रहे हैं। आखिर नतीजा निकला। चपरासी के लिये मुश्किल हुई कि वह काग़ज़ को बोर्ड पर कैसे चिपकाए। छीन-झपट, खींच-तान में पता न चला कि चपरासी बचेगा कि नहीं। लेकिन चपरासी की मौत न आई और कागज़ भी साबित रहा। लड़के नतीजा देखते, ज़रा ग़ौर से देखते, देख कर फिर लौट जाते। ऐसे क्रमशः हल्ला-गुल्ला कम हुआ—और तब अलग-थलग-सा एक लड़का, कठिनाई से दस बरस का होगा, धीमे से आगे बढ़ा और बोर्ड के सामने आ खड़ा हुआ। उसने स्थिरता से कागज़ देखा, अपने नाम के आगे के मार्क्स देखने के साथ उसने आस-पास के नाम देखे। वह कुछ देर मानों वहाँ जमा खड़ा रहा, फिर हटा, और धीमी चाल से चल दिया।

उसका नाम धनंजय है। इस नतीजे ने बताया है कि वह

सातवें में अव्वल आया है और आठवें दर्जे में चढ़ा है।

धनंजय तेज़ चाल से चलता हुआ घर आया और कहा, "अम्मा! मैं पास हो गया हूँ।"

उस की माँ काम में लगी थी और अनमनी थी! वह ऐसे ही रहा करती है। एक बार तो उसने जैसे सुना नहीं।

हठात् अपने उत्साह को उठाते हुये धनंजय ने कहा, "हाँ, माँ, और अव्वल हूँ अपनी सारी क्लास में।"

पर माँ में उत्साह न था। उसने कहा, 'अच्छा' और अपने हाथ काम से वह खींच न सकी। धनंजय ठिटका सा हो रहा। जैसे उसका अव्वल आना सही न हो, या उसका खुश होना गलत हो।

सहसा कुछ याद करके माँ ने कहा, "तो ले कुछ खा ले। सबेरे ही चला गया, बिन कुछ खाये-पिये। सुना ही नहीं, हाँ तो अब आया है नौ बजे!"

धनंजय ने पूछा, "पिता जी गये?"

"मैं क्या जानूँ? गये होंगे।"

धनंजय उत्तर के स्वर पर अस्त होने लगा। लेकिन फर्स्ट आना छोटी बात न थी। बोला, "जल्दी चले गये आज, मैं तो आया था कि—"

माँ ने कहा, "हाँ-हाँ निहाल करके रख देते वह तो। ले बैठ।"

धनंजय को बात समझ न आई। पर आये रोज़ यह देखता है और समझने की चेष्टा छोड़ चुका है। ऐसे अनसमझे ही समझदार होता जा रहा है। माँ की झिड़की पर वह चुपचाप हो बैठा। और जो उसके सामने खाने को रख दिया गया, खाने लगा, खाते-खाते हठात् वह अन्यमनस्क हो आया। दर्जे में पहले नम्बर आना और

कुल दस वर्ष की अवस्था में आठवें में चढ़ जाना—इस सब कारगुज़ारी की बहादुरी और खुशी उसमें लुप्त होगई। उसे अजब-सा लग आया। उसे अपने बाप के प्रति सहानुभूति हुई। उसके मन में चित्र उठ आया कि कैसे जल्दी में कोट डाल कर छतरी लेकर खिझे से पिता जी दफ़्तर के लिये चल पड़े होंगे। वह खाता रहा और अपने पिता को जाते हुए देखता रहा। सहसा उस सूने में से उसके पिता जी मिट गये, और उस जगह पर माता जी आ गईं। बोलीं, "और लेगा ?"

"नहीं।"

"तो अच्छा, बैठ के अब पढ़। बाहर आना-जाना नहीं कहीं, जो ऊधम मचाने निकल जाये।"

बालक ने सुन लिया और एक क्षण को माँ की ओर देखता रहा। फिर आँखें नीचे कीं, कर्त्तव्यपूर्वक खाने के बर्तनों को सामने से उठाया और उन्हें यथास्थान रखने को बढ़ा। माँ देखती रही। यह लड़का उसकी समझ से बाहर हुआ जा रहा है। कभी लड़के जैसा रहता ही नहीं, मानो एक दम सयाना बुज़ुर्ग हो। तब वह डर आती है, जैसे अपने पर पछतावा हो। और उस समय उस बुज़ुर्ग से बात छेड़ने का कोई उपाय भी नहीं रह जाता। उसमें सहसा मातृ-भावना उमड़ती है। पर उसे प्रकाशन का कोई अवकाश नहीं मिल पाता। परिणामतः उठी सहानुभूति रोष बन आती है।

माँ एकाएक बोली "क्यों, मेरे हाथ टूट गये हैं क्या, कि लाडले साहब बर्तन उठा कर चले! सुन ले, यह मेरे यहाँ नहीं चलेगा। ये नखरे दिखाना अपने बाप को!"

बालक, धीर—गम्भीर, अपने बर्तन रख कर लौटा, तौलिये से

मुँह पोंछा और बिना एक शब्द बोले छोटी-सी मेज़ के पास पड़ी कुर्सी पर ऐसे आन बैठा जैसे कुछ हुआ न हो।

माँ के लिये कुछ न रहा। बालक पर फूटती तो कैसे ? अपने को ही झिंझोड़ती तो कैसे ? इससे झीखती हुई वह वहाँ से अलग चली गई और जाकर काया को एक-दम काम में झोंक दिया। वेग से वह काम में जुट गई। उसके पास एक यही उपाय है : काम, काम, काम। ऐसे अपने मन का पता लेने की उसे जरूरत नहीं, मानो बाहर सब सुन्न हो आता है और वह खुद काम में फँस कर शान्त बनी रहती है।

काम के बीच में उसने सुना धनंजय कह रहा है, "मैं जा रहा हूँ—"

सुनकर माँ की हठीली शान्ति में एकाएक आग लग गई। दहाड़ कर बोली, "नहीं।"

पर बालक मानो बहरा हो, उसने सुना ही न हो। वह द्वार की ओर बढ़ा। तभी बिजली की तेज़ी से माँ ने लपक कर उसे बाँह से पकड़ा। कहा, "जाता कहाँ है। आ, आज तेरी हड्डी पसली ही तोड़ कर रख दूँ।"

बालक ने प्रतिरोध नहीं किया। माँ ने भी मारा नहीं, खींचते हुए उसे अन्दर ले जाकर खाट पर पटक दिया, और कहा, "मुझे तूने क्या समझ रक्खा है ? मैं घर की कहारन हूँ। एक बार जब कह दिया कि बाहर नहीं जाना है तो तुझे हिम्मत कैसे हुई उठने की।"

खाट पर स्वस्थ भाव से नीचे लटके पैरों को हिलाते हुए बालक ने कहा, "मुझे काम है।"

"काम है।" माँ ने कहा, "बताऊँ, अभी तुझे काम ?"

लेकिन अपनी धमकी से माँ को सन्तोष न हुआ। कारण, बालक सामने पूरी तरह स्वस्थ और सौम्य मालूम होता था। उस की देह को रोष का आवेग प्रचंड रूप से झकझोर गया। विस्मय यही था कि वह खड़ी कैसे रह सकी। बालक किंचिद् मुस्करा कर शान्त भाव से बोला, "अव्वल आने की सब को मिठाई देनी है। पिता जी ने कहा था—"

"पिता जी ने कहा था। आये बड़े पिता जी! मिठाई खिलाएँगे, घर वालों को पहिले रोटी तो खिला लें! यों बस लुटाना आता है! नहीं, कोई नहीं। बैठ यहीं कोने में और अपना काम देख।"

बालक चुपचाप पैर लटकाये बैठा माँ को देखता रहा, बोला नहीं। माँ क्षण भर उसे देखती रही। वह अपने को समझ न पा रही थी। इस लड़के पर उसे गर्व था। यह दुनिया में उसी का बेटा है। उस का अपना बेटा है। अव्वल आया है। आयेगा क्यों नहीं, मेरा जो बेटा है। बोली, "ख़बरदार जो हिला। टाँग तोड़ कर रख दूँगी, जो कुछ समझता हो।" कहकर वह कमरे से बाहर होने को मुड़ी, कि डग बढ़ता-बढ़ता रुका रह गया। एक बिजली-सी भीतर कौंध गई। वह ठिठकी। उसकी आँखें फैलीं, पूछा, "सच बता, वहीं जा रहा था?"

बालक जैसे प्रश्न को समझ न सका, वह विस्मय में चुप रह गया।

बोलीं, "सब समझती हूँ, वहीं जा रहा होगा। कैह गये होंगे चुपके से कि····आने दो अब की उन्हें।"

बालक चुप रहा।

माँ ने कहा, "बोलता क्यों नहीं है? वहीं न मिठाई पहुँचाने जा रहा था?"

बालक ने ढीठ भाव से माँ की आँखों में देखते हुए कहा, "हाँ, वहीं जा रहा था।"

माँ सुन कर सन्न रह गई, फिर उसका अपने पर बस न रहा, उसका हाथ छूट पड़ा और बच्चे की उसने वहीं खासी मरम्मत कर डाली। बच्चा पिटता रहा, मगर रोया नहीं। रोया नहीं, इससे माँ भी अपनी मार जल्दी न खत्म कर सकी। अन्त में थकना हुआ और माँ बालक को खाट पर औंधा पड़ा छोड़ लौट आई।

सोचने लगी कि यही उसका भाग्य है। घर में एक वह है और उस का काम। काम ही एक संगी है। एक रोज इसी में मर जाना है। बाकी तो सब बैरी हैं। मुझे तो मौत आजाय तो भला! एक वह हैं कि सवेरे छाता उठाया और चल दिये और शाम को आये कि सब-किया मिले। एक मैं करूँ और मैं ही मरूँ। और मरने को मैं, मौज करने को चाहे कोई दूसरी....और एक यह है कम्बख्त! मुझे तो गिनता ही नहीं, बस सदा उनके कहने में। घर क्या जेल है। एक उसने बाँध रखा है। नहीं तो जहाँ होता चली जाती, मगर यहाँ का मुँह न देखती ; न दाना लेती न पानी। पर यह छोकरा ऐसा बेहया है कि....

सोचती जाती और करती जाती थी। हाथ काम पर तनिक भी शिथिल न पड़ पाते थे। सफाई उसने अतिरिक्त कर डाली। व्यवस्था और व्यवस्थित हो गई। तो भी समय का अन्त आ गया। यह उसे अच्छा न लगता था, खालीपन उसे काटता था। विश्राम मानो उसे नरक हो आता था। पर हाथ के लिए काम कुछ न रह गया था। ऐसे में वह अन्दर गई। देखा बालक पड़ा सो रहा है। उसे पहले अचरज हुआ। मानो याद करके उसने जाना कि यह तो पिट कर सोया है। वह कुछ देर खाट के पास खड़ी अपने इस

अबोध शिशु को देखती रह गई। उसमें अनुताप उमड़ा। उसके मन में अपने इस लाड़ले के लिये प्यार भर आने लगा। देखो कि घर में होकर भी अनाथ-सा रहता है। मैं जब हुआ झिड़कती रहती हूँ। उन्हें! सो उनको कहाँ ध्यान है अपना या किसी का! वह आ-हिस्ता से अपने छौने के पास आन बैठी। फिर हौले से उसके गाल के नीचे अपनी हथेली देकर चेहरा ऊपर उठाते हुये बोली, "बेटे!"

बालक ने आँख खोली, जैसे उसे पहिचानने में कुछ देर लगी हो, फिर उसे माँ का प्यार बहुत अच्छा लगा। जैसे कब से छूट गया हो, और अब मुद्दत बाद मिला हो। उसने फिर आँख मींची और अपने को उस प्यार में अवश छोड़ दिया। बालक की दोनों कनपटियों को हाथ में लेकर माँ बोली, "आँख खोल बेटे, क्या इनाम लेगा माँ से, बता?"

बेटा विह्वल हुआ पड़ा रहा, उसने कुछ बताया नहीं। माँ ने कहा, "दो रुपये लेगा? अच्छा चल पाँच रुपये, उठ!"

इतने में ध्वनि आई, "ओ हो, आज तो यह बड़े प्यार हो रहे हैं, !" साथ ही बालक के पिता ने एक खूँटी से छाता लटकाया। और कोट के बटन खोलने शुरू किये।

बालक की माँ फौरन उठ गई, चेहरा खिंच आया। ओठ बन्द हो गये, और वह तेजी से बाहर जाने को हुई। बालक झपट कर उठ बैठा। बोला, "पिता जी, मैं क्लास में फर्स्ट आया हूँ।"

पिता बोले, "ओह, तभी तो कहूँ कि पाँच रुपये किस बात का इनाम है।"

माँ बोली, "कैसे पाँच रुपये, आसमान से आजाएँगे। लाके दिया है तुमने इस महीने में? घर में तो मैं हूँ, रुपये होंगे किसी और के लिये।"

"अच्छा, अच्छा," पिता बोले, "बोल क्या इनाम लेगा ?"

बालक सोचता रह गया। बोला, "आप देंगे ?"

पिता बोले, "कैसी पागल की-सी बात करता है। रे, देंगे नहीं तो क्या यों ही। सौ लड़कों में अव्वल आना क्या हँसी खेल है !"

माँ बोली, "ला रे मेरे पाँच रुपये।" और बच्चे के हाथ से अपना पाँच का नोट ले वह झपट कर चौके में चली गई।

उसी समय जीने पर चप्पलों की आहट हुई, और प्रमिला ने प्रवेश किया। हाथ में उसके रुमाल से ढकी तश्तरी थी। बालक उसे देखते ही उछाह से उसकी ओर दौड़ा प्रमिला बोली, "सबर तो कर, तेरे ही लिये तो यह लाई हूँ। क्यों रे, कहा भी नहीं, और अव्वल आ गया।"

बालक के पिता ने कहा, 'प्रमिला,'और मानो आस-पास देखने लगे कि पत्नी कहाँ है। पत्नी आहट पर हाथ का सब काम छोड़ जीने की ओर आँख लगा रही थी, और यद्यपि चौके से नहीं निकली थी, पर अन्दर कोने की खिड़की से सब-कुछ निगाह में रखने का प्रयत्न कर रही थी। जैसे अपने पर उसे बस न हो। चाहती हो न दीखे, और देखे, उसके प्यार में आई इस प्रमिला को और उसके आने पर उसके घर वालों के चेहरों पर सहसा उमड़ आए उत्साह को ओट में ही रहने दे, पर यह उससे न बना। जाने कैसी मुद्रा से खिड़की के पीछे से कोने में खड़ी वह उसी ओर आँख गड़ाए रही।

प्रमिला के गले से लगे-लगे अपनी जगह आते हुए बालक को सहसा माँ के चेहरे की झलक दीख गई।

प्रमिला ने कहा, "यह ले, बता और क्या इनाम लेगा।"

"माँगूँगा तो दोगी ?"

"हाँ दूँगी, पर तू बदमाश है, मुझी को न माँग लेना ।"

"बुरा तो न मानोगी ?"

"सुनो, पगले की बातें, इसका मैं बुरा मानूँगी ।"

बालक ने प्रमिला को पास बिठा लिया । उसके गले में हाथ डाल कर वह बोला, "देखो टालना मत, मेरा इनाम यह है कि इस घर में तुम अब से कभी न आना, तुम मुझे प्यार करती हो न ?"

पिता बोले, "यह क्या बकवास है, मुन्ने ।"

मुन्ने ने कहा, "आप भी तो इनाम देंगे, यही दीजिये कि इन से कभी न मिलिये ।"

पिता और प्रमिला कुछ समझें कि झपटती हुई माँ आई, बालक को गोद में उठा कर बोली, "हाथ क्यों बन्द किये हो ? खोल कर आगे क्यों नहीं कर देते, दस का नोट । मुट्ठी में नाहक मुड़ रहा होगा । और प्रमिला बड़े दिनों में आई हो, बैठो, तुम भी चखो न यह खुशी की मिठाई !"

बालक ने सबको देखा । मानो मैल धुल गया, क्षण का ही सही, पर क्या क्षण सत्य नहीं होता ?

पाजेब

बाजार में एक नई तरह की पाजेब चली हैं। पैरों में पड़कर वे बड़ी अच्छी मालूम होती हैं। उनकी कड़ियाँ आपस में लचक के के साथ जुड़ी रहती हैं कि पाजेब का मानो निज का आकार कुछ नहीं है, जिस पाँव में पड़े उसी के अनुकूल हो रहती हैं।

पास-पड़ोस में तो सब नन्ही-बड़ी के पैरों में आप वही पाजेब देख लीजिए। एक ने पहनी कि फिर दूसरी ने भी पहनी। देखा-देखी में इस तरह उनका न पहनना मुश्किल हो गया है।

हमारी मुन्नी ने भी कहा कि बाबूजी, हम पाजेब पहनेंगे। बोलिए भला कठिनाई से चार बरस की उम्र और पाजेब पहनेगी।

मैंने कहा कि कैसी पाजेब?

बोली कि हाँ, वही जैसी रुकमन पहनती है, जैसी सीला पहनती है।

मैंने कहा कि अच्छा-अच्छा।

बोली कि मैं तो आज ही मँगा लूँगी।

मैंने कहा कि अच्छा भाई आज सही।

उस वक्त तो खैर मुन्नी किसी काम में बहल गई। लेकिन जब दो पहर आई मुन्नी की बूआ, तब वह मुन्नी सहज मानने वाली न थी।

बूआ ने मुन्नी को मिठाई खिलाई और गोद में लिया और कहा कि अच्छा, तो तेरी पाजेब अब के इतवार को जरूर लेती आऊँगी।

इतवार को बूआ आई और पाजेब ले आई। मुन्नी उन्हें पहन-कर खुशी के मारे यहाँ-से-वहाँ छुमकती फिरी। रुकमिन के पास गई और कहा देख रुकमिन, मेरी पाजेब। शीला को भी अपनी पाजेब दिखाई। सबने पाजेब पहनी देखकर उसे प्यार किया और तारीफ की। सचमुच वह चाँदी की सफेद दो-तीन लड़ियाँ-सी टखनों के चारों ओर लिपट कर, चुपचाप बिछी हुई, ऐसी सुघड़ लगती थीं कि बहुत ही, और बच्ची की खुशी का ठिकाना न था।

और हमारे महाशय आशुतोष, जो मुन्नी के बड़े भाई थे, पहले तो मुन्नी को सजी-वजी देखकर बड़े खुश हुए। वह हाथ पकड़कर अपनी बढ़िया मुन्नी को पाजेब-सहित दिखाने के लिए आस-पास ले गये। मुन्नी की पाजेब का गौरव उन्हें अपना भी मालूम होता था। वह खूब हँसे और ताली पीटी, लेकिन थोड़ी देर बाद वह ठुमकने लगे कि मुन्नी को पाजेब दी, सो हम भी बाई-सिकिल लेंगे।

बूआ ने कहा कि अच्छा बेटा अबके जन्म-दिन को तुझे भी बाईसिकिल दिलवाएँगे।

आशा बाबू ने कहा कि हम तो अभी लेंगे।

बूआ ने कहा, "छी-छी तू कोई लड़की है? जिद तो लड़कियाँ

किया करती हैं। और लड़कियाँ रोती हैं। कहीं बाबू साहब लोग रोते हैं!"

आशूतोष बाबू ने कहा कि तो हम बाईसिकिल जरूर लेंगे जन्म-दिन वाले रोज।

बूआ ने कहा कि हाँ, यह बात पक्की रही, जन्म-दिन पर तुमको बाईसिकिल मिलेगी।

इस तरह वह इतवार का दिन हँसी-खुशी पूरा हुआ। शाम होने पर बच्चों की बूआ चली गई। पाजेब का शौक घड़ी-भर का था। वह फिर उतार कर रख-रखा दी गई, जिससे कहीं खो न जाय। पाजेब वह बारीक और सुबुक काम की थी और खासे दाम लग गए थे।"

श्रीमती ने हमसे कहा कि क्यों जी, लगती तो अच्छी है, मैं भी एक बनवा लूँ।

मैंने कहा कि क्यों न बनवाओ! तुम कौन चार बरस की नहीं हो?

खैर, यह हुआ। पर मैं रात को अभी अपनी मेज़ पर था कि श्रीमती ने आकर कहा कि तुमने पाज़ेब तो नहीं देखीं?

मैंने आश्चर्य से कहा कि क्या मतलब?

बोली कि देखो, यहाँ मेज़-वेज़ पर तो नहीं है। एक तो उसमें की है, पर दूसरे पैर की मिलती नहीं है। जाने कहाँ गई?

मैंने कहा कि जायगी कहाँ? यहीं-कहीं देख लो। मिल जायगी।

उन्होंने मेरे मेज़ के काग़ज़ उठाने-धरने शुरू किये और अलमारी की किताबें टटोल डालने का भी मनसूबा दिखाया।

मैंने कहा कि यह क्या कर रही हो? यहाँ वह कहाँ से आई?

जवाब में वह मुझी से पूछने लगीं कि तो फिर कहाँ है ?

मैंने कहा कि तुमने ही तो रक्खी होगी। कहाँ रक्खी थी ?

बतलाने लगी कि मैंने दोपहर के बाद कोई दो बजे उतार कर दोनों को अच्छी तरह सम्भाल कर उस नीचे वाले बक्स में रख दी थीं। अब देखा तो एक है, दूसरी गायब है।

मैंने कहा कि तो चलकर वह इस कमरे में कैसे आ जायगी ? भूल हो गई होगी। एक रक्खी होगी, एक वहीं-कहीं फर्श पर छूट गई होगी। देखो मिल जायगी। कहीं जा नहीं सकती।

इस पर श्रीमती कह-सुन करने लगीं कि तुम तो ऐसे ही हो। खुद लापरवाह हो, दोष उल्टे मुझे देते हो। कह तो रही हूँ कि मैंने दोनों संभाल कर रखी थीं।

मैंने कहा कि सम्भाल कर रखी थी, तो फिर यहाँ-वहाँ क्यों देख रही हो ? जहाँ रक्खी थी वहीं से ले लो न। वहाँ नहीं है तो फिर किसी ने निकाली ही होगी।

श्रीमती बोलीं कि मेरा भी यही ख्याल हो रहा है। हो न हो, बंसी नौकर ने निकाली है। मैंने रक्खी, तब वह वहाँ मौजूद भी था।

मैंने कहा कि तो उससे पूछा ?

बोली कि वह तो साफ़ इन्कार करता है।

मैंने कहा कि तो फिर ?

श्रीमती ज़ोर से बोलीं कि तो फिर मैं क्या बताऊँ ? तुम्हें तो किसी बात की फिकर है नहीं। डाँट कर कहते क्यों नहीं हो, उस बंसी को बुला कर ? ज़रूर पाजेब उसी ने ली है।

मैंने कहा कि अच्छा, तो उसे क्या कहना होगा ? यह कहूँ कि ला भाई पाजेब दे दे !

श्रीमती झल्ला कर बोलीं कि हो चुका बस कुछ तुमसे। तुम्हीं ने तो उस नौकर की जात को शहज़ोर बना रखा है। डाट न फटकार, नौकर ऐसे सिर न चढ़ेगा तो क्या होगा ?

बोलीं कि कह तो रही हूँ कि किसी ने उसे बक्स में से निकाला ही है। और सोलह में पन्द्रह आने यह बंसी है। सुनते हो न, वही है।

मैंने कहा कि मैंने बंसी से पूछा था। उसने नहीं ली मालूम होती।

इस पर श्रीमती ने कहा कि तुम नौकरों को नहीं जानते। वे बड़े छँटे होते हैं। जरूर बंसी ही चोर है। नहीं तो क्या फ़रिश्ते लेने आते।

मैंने कहा कि तुमने आशुतोष से भी पूछा ?

बोली पूछा था। वह तो खुद ट्रंक और बक्स के नीचे घुस-घुसकर खोज लगाने में मेरी मदद करता रहा है। वह नहीं ले सकता।

मैंने कहा उसे पतंग का बड़ा शौक है।

बोली कि तुम तो उसे बताते-बरजते कुछ हो नहीं। उमर होती जा रही है। वह यों ही रह जायगा। तुम्हीं हो उसे पतंग की शह देने वाले।

मैंने कहा कि जो कहीं पाजेब ही पड़ी मिल गई हो तो ?

बोली कि नहीं, नहीं, नहीं ! मिलती तो वह बता न देता ?

खैर, बातों-बातों में मालूम हुआ कि उस शाम आशुतोष पतंग और एक डोर का पिन्ना नया लाया है।

श्रीमती ने कहा कि यह तुम्हीं हो जिसने पतंग की उसे इजाज़त दी। बस सारे दिन पतंग-पतंग। यह नहीं कि कभी उसे बिठाकर

सबक़ की भी कोई बात पूछो। मैं सोचती हूँ कि एक दिन तोड़-ताड़ दूँ उसकी सब डोर और पतंग। हाँ, तो सारे वक्त वही धुन!

मैंने कहा कि खैर, छोड़ो। कल सबेरे पूछ-ताछ करेंगे।

सबेरे बुला कर मैंने गम्भीरता से उससे पूछा कि क्यों बेटा, एक पाजेब नहीं मिल रही है, तुमने तो नहीं देखी?

वह गुम हो आया। जैसे नाराज़ हो। उसने सिर हिलाया कि उसने नहीं ली। पर मुँह उसने नहीं खोला।

मैंने कहा कि देखो बेटे, ली हो तो कोई बात नहीं, सच कह देना चाहिए।

उसका मुँह और भी फूल आया। और वह गुम-सुम बैठ रहा।

मेरे मन में उस समय तरह-तरह के सिद्धान्त आए। मैंने स्थिर किया कि अपराध के प्रति करुणा ही होनी चाहिए। रोष का अधिकार नहीं है। प्रेम से ही अपराध-वृत्ति को जीता जा सकता है। आतंक से उसे दबाना ठीक नहीं है। बालक का स्वभाव कोमल होता है और सदा ही उससे स्नेह से व्यवहार करना चाहिए इत्यादि।

मैंने कहा कि बेटा आशुतोष, तुम घबराओ नहीं। सच कहने में घबराना नहीं चाहिए। ली हो तो खुल कर कह दो बेटा! हम कोई सच कहने की सज़ा थोड़े ही दे सकते हैं! बल्कि सच बोलने पर तो इनाम मिला करता है।

आशुतोष सब सुनता हुआ बैठा रह गया। उसका मुँह सूजा था। वह सामने मेरी आँखों में नहीं देख रहा था। रह-रहकर उसके माथे पर बल पड़ते थे।

"क्यों बेटे, तुमने ली तो नहीं?"

उसने सिर हिला कर, क्रोध से अस्थिर और तेज़ आवाज़ में

कहा कि मैंने नहीं ली, नहीं ली, नहीं ली। यह कहकर वह रोने-को हो आया, पर रोया नहीं। आँखों में आँसू रोक लिये।

उस वक्त मुझे प्रतीत हुआ उग्रता दोष का लक्षण है।

मैंने कहा देखो बेटा, डरो नहीं, अच्छा जाओ। ढूँढो, शायद कहीं पड़ी हुई वह पाज़ेब मिल जाय। मिल जायगी तो हम तुम्हें इनाम देंगे।

वह चला गया और दूसरे कमरे में जाकर पहले तो एक कोने में खड़ा हो गया। कुछ देर चुपचाप खड़े रहकर वह फिर यहाँ-वहाँ पाजेब की तलाश में लग गया।

श्रीमती आकर बोलीं आशू से तुमने पूछताछ लिया? क्या ख्याल है?

मैंने कहा कि सन्देह तो मुझे होता है। नौकर का काम ता यह है नहीं!

श्रीमती ने कहा कि नहीं जी, आशू भला क्यों लेगा?

मैं कुछ बोला नहीं। मेरा मन जाने कैसे गम्भीर प्रेम के भाव से आशुतोष के प्रति उमड़ रहा था। मुझे ऐसा मालूम होता था कि ठीक इस समय आशुतोष को हमें अपनी सहानुभूति से वंचित नहीं करना चाहिए। बल्कि कुछ अतिरिक्त स्नेह इस समय बालक को मिलना चाहिए। मुझे यह एक भारी दुर्घटना मालूम होती थी। मालूम होता था कि अगर आशुतोष ने चोरी की है तो उसका इतना दोष नहीं है; बल्कि यह हमारे ऊपर बड़ा भारी इल्ज़ाम है। बच्चे में चोरी की आदत भयावह हो सकती है। लेकिन बच्चे के लिए वैसी लाचारी उपस्थित हो आई, यह और भी कहीं भयावह है। यह हमारी आलोचना है। हम उस चोरी से बरी नहीं हो सकते।

मैंने बुलाकर कहा, "अच्छा सुनो। देखो, मेरी तरफ देखो, यह बताओ कि पाजेब तुमने छुन्नू को दी है न?"

वह कुछ देर कुछ नहीं बोला। उसके चेहरे पर रंग आया और गया। मैं एक-एक छाया ताड़ना चाहता था।

मैंने आश्वासन देते हुए कहा कि कोई बात नहीं। हाँ, हाँ, बोलो डरो नहीं। ठीक बताओ बेटे! कैसा हमारा सच्चा बेटा है।

मानो बड़ी कठिनाई के बाद उसने अपना सिर हिलाया।

मैंने बहुत खुश होकर कहा कि दी है न छुन्नू को?

उसने सिर हिला दिया।

अत्यन्त सांत्वना के स्वर में स्नेहपूर्वक मैंने कहा कि मुँह से बोलो। छुन्नू को दी है?

उसने कहा, "हाँ-आँ।"

मैंने अत्यन्त हर्ष के साथ दोनों बाँहों में लेकर उसे उठा लिया। कहा कि ऐसे ही बोल दिया करते हैं अच्छे लड़के। आशू हमारा राजा बेटा है। गर्व के भाव से उसे गोद में लिये-लिये मैं उसकी माँ की तरफ गया। उल्लासपूर्वक बोला कि देखो हमारे बेटे ने सच कबूल किया है। पाजेब उसने छुन्नू को दी है।

सुनकर माँ उसकी खुश हो आई। उन्होंने उसे चूमा। बहुत शाबाशी दी और उसकी बलैयाँ लेने लगीं!

आशुतोष भी मुस्करा आया अगरचे एक उदासी-भी उसके चेहरे से दूर नहीं हुई थी।

उसके बाद अलग ले जाकर मैंने उससे बड़े प्रेम से पूछा कि पाजेब छुन्नू के पास है न? जाओ माँग ला सकते हो उससे?

आशुतोष मेरी ओर देखता हुआ बैठा रह गया। मैंने कहा कि जाओ बेटे! ले आओ।

उसने जवाब में मुँह नहीं खोला।

मैंने आग्रह किया तो वह बोला कि छुन्नू के पास नहीं हुई तो वह कहाँ से देगा!

मैंने कहा कि तो जिसको उसने दी होगी उसका नाम बता देगा। सुनकर वह चुप हो गया। मेरे बार-बार कहने पर वह यही कहता रहा कि पाजेब छुन्नू के पास न हुई तो वह देगा कहाँ से?

अन्त में हारकर मैंने कहा कि वह कहीं तो होगी। अच्छा तुमने कहाँ से उठाई थी?

"पड़ी मिली थी।"

"और फिर नीचे जाकर वह तुमने छुन्नू को दिखाई?"

"हाँ!"

"फिर उसीने कहा कि इसे बेचेंगे?"

"हाँ!"

"कहाँ बेचने को कहा?"

"कहा मिठाई लाएँगे?"

"नहीं पतंग लायँगे।"

"अच्छा पतंग को कहा?"

"हाँ!"

"सो पाजेब छन्न के पास रह गई?"

"हाँ!"

"तो उसीके पास होनी चाहिए न? या पतंग वाले के पास होगी। जाओ बेटा उससे ले आओ। कहना हमारे बाबूजी तुम्हें इनाम देंगे।"

वह जाना नहीं चाहता था। उसने फिर कहा कि छुन्नू के पास नहीं हुई तो कहाँ से देगा?

मुझे उसकी जिद बुरी मालूम हुई। मैंने कहा कि तो कहीं तुमने उसे गाड़ दिया है? क्या किया है? बोलते क्यों नहीं?

वह मेरी ओर देखता रहा और कुछ नहीं बोला।

मैंने कहा कुछ कहते क्यों नहीं?

वह गुम-सुम रह गया। और नहीं बोला।

मैंने डपटकर कहा कि जाओ, जहाँ हो वहीं से पाजेब लेकर आओ।

जब वह अपनी जगह से नहीं उठा और नहीं गया तो मैंने उसे कान पकड़कर उठाया। कहा कि सुनते हो? जाओ पाजेब लेकर आओ। नहीं तो घर में तुम्हारा काम नहीं है।

उस तरह उठाया जाकर वह उठ गया और कमरे से बाहर निकल गया। निकलकर बरामदे के एक कोने में रूठा मुँह बनाकर खड़ा रह गया।

मुझे बड़ा क्षोभ हो रहा था। यह लड़का सच बोलकर अब किस बात से घबरा रहा है, यह मैं कुछ समझ न सका। मैंने बाहर आकर जरा धीरे से कहा कि जाओ भाई, जाकर छुन्नू से कहते क्यों नही हो?

पहले तो उसने कोई जवाब नहीं दिया और जब जवाब दिया त। बार-बार कहने लगा कि छुन्नू के पास नहीं हुई तो वह कहाँ से देगा?

मैंने कहा कि जितने में उसने बेची होगी वह दाम दे देंगे। समझे न जाओ, तुम कहो तो।

छुन्नू की माँ तो कह रही है कि उनका लड़का ऐसा काम नहीं कर सकता। उसने पाजेब नहीं देखी।

जिस पर आशुतोष की माँ ने कहा कि नहीं तुम्हारा छुन्नू झूठ बोलता है। क्यों रे आशुतोष तैंने दी थी न ?

आशुतोष ने धीरे से कहा कि हाँ, दी थी।

दूसरी ओर से छुन्नू बढ़कर आया और हाथ फटकारकर बोला कि मुझे नहीं दी। क्यों रे मुझे कब दी थी ?

आशुतोष ने जिद बाँधकर कहा कि दी तो थी। कह दो नहीं दी थी ?

नतीजा यह हुआ कि छुन्नू की माँ ने छुन्नू को खूब पीटा और खुद भी रोने लगी। कहती जाती कि हाय रे, अब हम चोर हो गए। यह कुलच्छिनी औलाद जाने कब मिटेगी ?

बात दूर तक फैल चली। पड़ोस की स्त्रियों में पवन पड़ने लगी। और श्रीमती ने घर लौटकर कहा कि छुन्नू और उसकी माँ दोनों एक-से हैं।

मैंने कहा कि तुमने तेजा-तेजी क्यों कर डाली ? ऐसे कोई बात भला कभी सुलझती है !

बोली कि हाँ मैं तेज बोलती हूँ। अब जाओ ना, तुम्हीं उनके पास से पाजेब निकालकर लाते क्यों नहीं ? तब जानूँ जब पाजेब निकलवा दो।

मैंने कहा कि पाजेब से बढ़कर शान्ति है। और अशान्ति से तो पाजेब मिल नहीं जायगी।

श्रीमती बुदबुदाती हुई नाराज होकर मेरे सामने से चली गईं।

थोड़ी देर बाद छुन्नू की माँ हमारे घर आईं। श्रीमती उन्हें लाई थीं। अब उनके बीच गर्मी नहीं थी। उन्होंने मेरे सामने आकर कहा कि छुन्नू तो पाजेब के लिए इनकार करता है। वह पाजेब कितने की थी मैं उसके दाम भर सकती हूँ।

मैंने कहा, "यह आप क्या कहती हैं। बच्चे बच्चे हैं। आपने छुन्नू से सहूलियत से पूछा भी?"

उन्होंने उसी समय छुन्नू को बुलाकर मेरे सामने कर दिया। कहा कि क्यों रे, बता क्यों नहीं देता जो तैंने पाजेब देखी हो?

छुन्नू ने जोर से सिर हिलाकर इनकार किया। और बताया कि पाजेब आशुतोष के हाथ में मैंने देखी थी और वह पतङ्ग वाले को दे आया है। मैंने खूब देखी थी, वह चाँदी की थी।

"तुम्हें ठीक मालूम है?"

"हाँ, वह मुझ से कह रहा था कि तू भी चल। पतङ्ग लायँगे।"

"पाजेब कितनी बड़ी थी? बताओ तो।"

छुन्नू ने उसका आकार बताया। जो ठीक ही था।

मैंने उसकी माँ की तरफ देखकर कहा कि देखिए न पहले यही कहता था कि मैंने पाजेब देखी तक नहीं। अब कहता है कि देखी है।

माँ ने मेरे सामने छुन्नू को खींचकर तभी धम्म-धम्म पीटना शुरू कर दिया। कहा कि क्यों रे, झूठ बोलता है? तेरी चमड़ी न उधेड़ी तो मैं नहीं।

मैंने बीच-बचाव करके छुन्नू को बचाया। वह शहीद की भाँति पिटता रहा था। रोया बिलकुल नहीं था और एक कोने में खड़े अशुतोष को जाने किस भाव से वह देख रहा था।

खैर, मैंने सबको छुट्टी दी। कहा कि जाओ बेटा छुन्नू, खेलो। उस की माँ को कहा कि आप उसे मारियेगा नहीं। और पाजेब कोई ऐसी बड़ी चीज नहीं है।

छुन्नू चला गया। तब, उसकी माँ ने पूछा कि आप उसे कसूर-वार समझते हो?

मैंने कहा कि मालूम तो होता है कि उसे कुछ पता है। और वह मामले में शामिल है।

इस पर छुन्नू की माँ ने पास बैठी हुई मेरी पत्नी से कहा, "चलो बहनजी मैं तुम्हें अपना सारा घर दिखाए देती हूँ। एक-एक चीज़ देख लो। होगी पाजेब तो जायगी कहाँ?"

मैंने कहा, "छोड़िए भी। बेबात की बात बढ़ाने से क्या फायदा।" सो ज्यों-त्यों मैंने उन्हें दिलासा दिया। नहीं तो वह छुन्नू को पीट-पाट हाल-बेहाल कर डालने का प्रण ही उठाए ले रही थी। कुलच्छनी, आज उसी धरती में नहीं गाड़ दिया, तो मेरा नाम नहीं।

खैर, जिस-तिस भाँति बखेड़ा टाला। मैं इस झंझट में दफ्तर भी समय पर नहीं जा सका। जाते वक्त श्रीमती को कह गया कि देखो आशुतोष को धमकाना मत। प्यार से सारी बातें पूछना। धमकाने से बच्चे बिगड़ जाते हैं, और हाथ कुछ नहीं आता। समझी न?

शाम को दफ्तर से लौटा तो श्रीमती ने सूचना दी कि आशुतोष ने सब बतला दिया है। ग्यारह आने पैसे में वह पाजेब पतंग-वाले को दे दी है। पैसे उसने थोड़े-थोड़े करके देने को कहे हैं। पाँच आने जो दिये वह छुन्नू के पास हैं। इस तरह रत्ती-रत्ती बात उसने कह दी है।

कहने लगी कि मैंने बड़े प्यार से पूछ-पूछकर यह-सब उसके पेट में से निकाला है। दो-तीन घंटे मैं मगज़ मारती रही। हाय राम, बच्चे का भी क्या जी होता है।

मैं सुनकर खुश हुआ। मैंने कहा कि चलो अच्छा है, अब पाँच आने भेज कर पाजेब मँगा लेंगे। लेकिन यह पतंग-वाला भी

कितना बदमाश है, बच्चों के हाथ से ऐसी चीज़ें लेता है। उसे पुलिस में दे देना चाहिए। उचक्का कहीं का !

फिर मैंने पूछा कि आशुतोष कहाँ है ?

उन्होंने बताया कि बाहर ही कहीं खेल-खाल रहा होगा।

मैंने कहा कि बंसी, जाकर उसे बुला तो लाओ।

बंसी गया और उसने आकर कहा कि वह अभी आते हैं।

"क्या कर रहा है ?"

"छुन्नू के साथ गिल्ली-डण्डा खेल रहे हैं।"

थोड़ी देर में आशुतोष आया। तब मैंने उसे गोद में लेकर प्यार किया। आते-आते उसका चेहरा उदास होगया था और गोद में लेने पर भी वह विशेष प्रसन्न नहीं मालूम हुआ।

उसकी माँ ने खुश होकर कहा कि हमारे आशुतोष ने सब बातें अपने आप पूरी-पूरी बता दी हैं। हमारा आशुतोष बड़ा सच्चा लड़का है।

आशुतोष मेरी गोद में टिका रहा। लेकिन अपनी बड़ाई सुन कर भी उसको कुछ हर्ष नहीं हुआ प्रतीत होता था।

मैंने कहा कि आओ चलो। अब क्या बात है। क्यों हज़रत तुम को पाँच ही आने तो मिले हैं न ? हमसे पाँच आने माँग लेते तो क्या हम न देते ? सुना अब से ऐसा मत करना बेटे !

कमरे में ले जाकर मैंने उससे फिर पूछताछ की, "क्यों बेटा पतंग-वाले ने पाँच आने तुम्हें दिये न ?"

"हाँ !"

"और वह छुन्नू के पास हैं ?"

"हाँ !"

"अभी तो उसके पास होंगे न ?"

"नहीं"

"खर्च कर दिए ?"

"नहीं"

"नहीं खर्च किये ?"

"हाँ"

"खर्च किये, कि नहीं खर्च किये ?"

उस ओर से प्रश्न करने पर वह मेरी ओर देखता रहा, उत्तर नहीं दिया।

"बताओ खर्च कर दिये कि अभी हैं ?"

जवाब में उसने एक बार 'हाँ' कहा तो दूसरी बार 'नहीं' कहा।

मैंने कहा कि तो यह क्यों नहीं कहते कि तुम्हें नहीं मालूम है ?

"हाँ"

"बेटा मालूम है न ?"

"हाँ"

पतंग वाले से पैसे छुन्नू ने लिये हैं न ?

"हाँ"

"तुमने क्यों नहीं लिये ?"

वह चुप।

"पाँचों इकन्नी थीं, या दुअन्नी और पैसे भी थे ?"

वह चुप।

"बतलाते क्यों नहीं हो ?"

चुप !

"इकन्नियाँ कितनी थीं, बोलो ?"

"दो"

"बाकी पैसे थे ?"

"हाँ"

"दुअन्नी नहीं थी ?"

"हाँ"

"दुअन्नी थी ?"

"हाँ"

मुझे क्रोध आने लगा। डपटकर कहा कि सच क्यों नहीं बोलते जी ? सच बताओ कितनी इकन्नियाँ थीं और कितना क्या था।

वह गुम-सुम खड़ा रहा, कुछ नहीं बोला।

"बोलते नहीं ?"

वह नहीं बोला।

"सुनते हो ! बोलो—नहीं तो—"

आशुतोष डर गया। और कुछ नहीं बोला।

"सुनते नहीं मैं क्या कह रहा हूँ ?"

इस बार भी वह नहीं बोला तो मैंने पकड़कर उसके कान खींच लिए। वह बिना आँसू लाये गुम-सुम खड़ा रहा।

"अब भी नहीं बोलोगे ?"

वह डर के मारे पीला हो आया। लेकिन बोल नहीं सका। मैंने जोर से बुलाया, "बंसी यहाँ आओ, इसको ले जाकर कोठरी में बन्द कर दो।'

बंसी नौकर उसे उठाकर ले गया और कोठरी में मूँद दिया।

दस मिनट बाद मैंने फिर उसे पास बुलवाया। उसका मुँह सूजा हुआ था। बिना कुछ बोले उसके ओंठ हिल रहे थे। कोठरी में बंद होकर भी वह रोया नहीं।

मैंने कहा क्यों रे, अब तो अकल आई ?

वह सुनता हुआ गुम-सुम खड़ा रहा।

"अच्छा पतंग-वाला कौनसा है ? दाईं तरफ का वह चौराहे वाला ?" उसने कुछ ओंठों में ही बड़बड़ा दिया। जिसे मैं कुछ न समझ सका।'

"वह चौराहे वाला ? बोलो—"

"हाँ"

"देखो अपने चाचा को साथ ले जाओ। बता देना कि कौन-सा है। फिर उसे स्वयं भुगत लेंगे। समझते हो न ?"

यह कहकर मैंने अपने भाई को बुलवाया। सब बात समझा-कर कहा, "देखो पाँच आने के पैसे ले जाओ। पहले तुम दूर रहना। अशुतोष पैसे ले जाकर उसे देगा और अपनी पाजेब माँगेगा। अव्वल तो वह पाजेब लौटा ही देगा। नहीं तो उसे डाँटना और कहना कि तुझे पुलिस के सुपुर्द कर दूँगा। बच्चों से माल ठगता है ? समझे ? नरमी की जरूरत नहीं है।"

"और आशुतोष अब जाओ अपने चाचा के साथ जाओ।" वह अपनी जगह पर खड़ा था। सुनकर भी टस-से-मस होता दिखाई नहीं दिया।

"नहीं जाओगे ?"

उसने सिर हिला दिया कि नहीं जाऊँगा।

मैंने तब उसे समझाकर कहा कि भैया घर की चीज़ है, दाम लगे हैं। भला पाँच आनों में रुपयों का माल किसी के हाथ खो दोगे। जाओ चाचा के संग जाओ। तुम्हें कुछ नहीं कहना होगा। हाँ पैसे दे देना और अपनी चीज वापस माँग लेना। दे दे, नहीं दे नहीं दे। तुम्हारा इससे सरोकार नहीं। सच है न बेटे ! अब जाओ।

पर वह जाने को तैयार ही नहीं दीखा। मुझे उस लड़के की

गुस्ताखी पर बड़ा बुरा मालूम हुआ। बोलो इसमें बात क्या है। इसमें मुश्किल कहाँ है ? समझाकर बात कर रहे हैं सो समझता ही नहीं, सुनता ही नहीं।

मैंने कहा कि क्यों रे नहीं जायगा ?

उसने फिर सिर हिला दिया कि नहीं जाऊँगा।

मैंने प्रकाश, अपने छोटे भाईको बुलाया। कहा, "प्रकाश इसे पकड़ कर ले जाओ।"

प्रकाश ने उसे पकड़ा और आशुतोष अपने हाथ-पैरों से उसका प्रतिकार करने लगा। वह साथ जाना नहीं चाहता था।

मैंने अपने ऊपर बहुत जब्र करके फिर आशुतोष को पुचकारा, कहा कि जाओ भाई ! डरो नहीं। अपनी चीज घर में आयगी। इतनी-सी बात समझते नहीं। प्रकाश इसे गोदी में ले जाओ और जो चीज माँगे उसे बाजार से दिलवा देना। जाओ भाई आशुतोष।

पर उसका मुँह फूला हुआ था। जैसे-तैसे बहुत समझाने पर वह प्रकाश के साथ चला। ऐसे चला मानो पैर उठाना उसे भारी हो रहा हो। आठ बरस का यह लड़का होने आया फिर भी देखो न कि किसी भी बात की उसमें समझ नहीं है। मुझे जो गुस्सा आया तो क्या बतलाऊँ। लेकिन यह याद करके कि गुस्से से बच्चे सम्भलने की जगह बिगड़ते हैं मैं अपने को दबाता चला गया। ख़ैर वह गया तो मैंने चैन की साँस ली।

लेकिन देखता क्या हूँ कि कुछ देर में प्रकाश लौट आया है।

मैंने पूछा क्यों ?

बोला कि आशुतोष भाग आया है।

मैंने कहा कि अब वह कहाँ है ?

"वह रूठा खड़ा है घर में नहीं आता।"

"जाओ पकड़कर तो लाओ।"

वह पकड़ा हुआ आया। मैंने कहा, "क्यों रे, तू शरारत से बाज नहीं आयगा? बोल, जायगा कि नहीं?"

वह नहीं बोला तो मैंने कसकर उसे दो चाँटे दिये। थप्पड़ लगते ही वह एक दम चीखा पर फौरन चुप हो गया। वह वैसे ही मेरे सामने खड़ा रहा।

मैंने उसे देखकर मारे गुस्से से कहा कि ले जाओ इसे मेरे सामने से। जाकर कोठरी में बन्द कर दो। दुष्ट!

इस बार वह आध-एक घण्टे बन्द रहा। मुझे ख्याल आया कि मैं ठीक नहीं कर रहा हूँ, लेकिन जैसे कि दूसरा रास्ता न दीखता था। मार-पीटकर मन को ठिकाना देने की आदत पड़ गई थी, और कुछ अभ्यास न था।

खैर, मैंने इस बीच प्रकाश को कहा कि तुम दोनों पतंग-वालों के पास जाओ। मालूम करना कि किसने पाजेब ली है। होशियारी से मालूम करना। मालूम होने पर सख्ती करना। मुरव्वत की जरूरत नहीं। समझे?

प्रकाश गया पर लौटने पर बताया कि किसी के पास पाजेब नहीं है।

सुनकर मैं झल्ला आया, कहा कि तुमसे कुछ काम नहीं हो सकता। जरा सी बात नहीं हुई, तुमसे क्या उम्मीद रखी जाय?

वह अपनी सफाई देने लगा। मैंने कहा, "बस तुम जाओ।"

प्रकाश मेरा बहुत लिहाज मानता था। वह मुँह डालकर चला गया। कोठरी खुलवाने पर आशुतोष को फर्श पर सोता पाया। उसके चेहरे पर अब भी आँसू नहीं थे। सच पूछो तो मुझे उस

समय बालक पर करुणा हुई। लेकिन आदमी में एक ही साथ जाने क्या-क्या विरोधी भाव उठते हैं।

मैंने उसे जगाया। वह हड़बड़ाकर उठा। मैंने कहा, "कहो क्या हालत है?"

थोड़ी देर तक वह समझा ही नहीं। फिर शायद पिछला सिलसिला याद आया। झट उसके चेहरे पर वही जिद, अकड़ और प्रतिरोध के भाव दिखाई देने लगे।

मैंने कहा कि या तो राजी-राजी चले जाओ नहीं तो इस कोठरी में फिर बन्द किए देते हैं।

आशुतोष पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा हो ऐसा नहीं मालूम हुआ।

खैर, उसे पकड़कर लाया और समझाने लगा। मैंने निकालकर उसे एक रुपया दिया और कहा, "बेटा इसे पतंग वाले को देना और पाजेब माँग लेना। कोई घबराने की बात नहीं। तुम तो समझदार लड़के हो।"

उसने कहा कि जो पाजेब उसके पास नहीं हुई तो वह कहाँ से देगा?

"इसका क्या मतलब, तुमने कहा न कि पाँच आने में पाजेब दी है! न हो छुन्नू को भी साथ ले लेना। समझे?'

वह चुप हो गया। आखिर समझाने पर जाने को तैयार हुआ। मैंने प्रेमपूर्वक उसे प्रकाश के साथ जाने को कहा। उसका मुँह भारी देखकर डाँटने वाला ही था कि इतने में सामने उसकी बूआ दिखाई दी।

बूआ ने आशुतोष के सिर पर हाथ रखकर पूछा कि कहाँ जा रहे हो, मैं तो तुम्हारे लिए केले और मिठाई लाई हूँ।

आशुतोष का चेहरा रूठा ही रहा। मैंने बूआ से कहा कि उसे रोको मत, जाने दो।

आशुतोष रुकने को उद्यत था। वह चलने में आनाकानी दिखाने लगा।

बूआ ने पूछा, "क्या बात है?"

मैंने कहा, "कोई बात नहीं, जाने दो न उसे।"

पर आशुतोष मचलने पर आ गया था। मैंने डाँटकर कहा, "प्रकाश इसे ले क्यों नहीं जाते हो।"

बूआ ने कहा कि बात क्या है? क्या बात है?

मैंने पुकारा, "तू बँसी—भी साथ जा। बीच से लौटने न पावे।" सो मेरे आदेश पर दोनों आशुतोष को जबरदस्ती उठाकर सामने से ले गए।

बूआ ने कहा, "क्यों उसे सता रहे हो?"

मैंने कहा कि कुछ नहीं; जरा यों ही—

फिर मैं उनके साथ इधर-उधर की बातें ले बैठा। राजनीति राष्ट्र की ही नहीं होती मुहल्ले में भी राजनीति होती है। यह भार स्त्रियों पर टिकता है। कहाँ क्या हुआ, क्या होना चाहिए इत्यादि चर्चा स्त्रियों को लेकर रँग फैलाती है। इसी प्रकार की कुछ बातें हुईं, फिर छोटा-सा बक्सा सरका कर बोली, इसमें वह कागज़ हैं जो तुमने माँगे थे। और यहाँ—

यह कहकर उन्होंने अपनी वास्कट की जेब में हाथ डालकर पाजेब निकालकर सामने की, जैसे सामने बिच्छू हो। मैं भयभीत भाव से कह उठा कि यह क्या?

बोली कि उस रोज भूल से यह एक पाजेब मेरे साथ ही चली गई थी।

आत्मशिक्षण

महाशय रामरत्न को इधर रामचरण के समझने में कठिनाई हो रही है। वह पढ़ता है और अपने में रहता है। कुछ कहते हैं तो दो-एक बार तो सुनता ही नहीं। सुनता है तो जैसे चौंक पड़ता है। ऐसे समय, मानो विघ्न पड़ा हो इस भाव से वह झुँझला भी उठता है। लेकिन तभी झुँझलाने पर वह अपने से अप्रसन्न भी दीखता है और फिर बिन बात, बिन अवसर वह बेहद विनम्र हो जाता है।

यह तेरह वर्ष की अवस्था ही ऐसी है। तब कुछ बालक में उग रहा होता है। इससे न वह ठीक बालक होता है, न कुछ और। उसे प्यार नहीं कर सकते, न उससे परामर्श कर सकते हैं। तब वह किस क्षण बालक है और किस पल बुजुर्ग, यह नहीं जाना जा सकता। उसका आत्मसम्मान कहाँ रगड़ खा जायगा, कहना कठिन है। उससे कुछ डरकर चलना पड़ता है।

रामरत्न की बात तो भी दूसरी है। घर में अधिक काल उन्हें नहीं रहना होता। सबेरे नौ बजे दफ्तर की तैयारी हो जाती है

और साँझ अँधेरे वापस आते हैं। बाद खाने के समय अलावा कोई घण्टाभर घर में रहने पाते होंगे। रात नींद की होती ही है। पर दिनमणि की परेशानी की न पूछो। वह रामचरण को लेकर हैरान है। अकेले में बैठकर सोचती है, दो जनियों से पूछकर वह विचारती है। पर ठीक कुछ समझ नहीं आता कि रामचरण से कैसे निबटे ? जानती है कि लड़का यह सुशील है, खोटी आदत कोई नहीं है। किताबें सदा अच्छी और धर्म की पढ़ता है। पर उसकी तबीयत की थाह जो नहीं मिलती। यह गुमसुम रहता है। चार दफे बात कहते हैं तब जाकर कहीं जवाब देता है। इस कारण आये दिन कलह बनी रहती है। इसमें दिनमणि को अपनी जुबान खराब करनी पड़ती है और रामचरण अटल रहता है, वह दस तरह झीकती है—फटकारती है। डपटती है और कहती है मैं क्या भौंकने के लिए हूँ ? पर रामचरण को जो करना होता है करता है और नहीं करना होता वह नहीं करता। सारांश, दिनमणि कह-सुनकर अपने आप में फुँक रहती है।

दिनमणि ने अब अपने भीतर से सीख लेकर रामचरण से कहना-सुनना लगभग छोड़ दिया है। कुछ होता है तो पुत्र के पिता पर जा डालती है। सवेरे का स्कूल है और आठ बज गये हैं पर रामचरण अभी खाट पर पड़ा है। पड़ौस के सब बालक स्कूल गये, खुद घर की छोटी विन्नी नाश्ता करके स्कूल जा चुकी है। आँगन में धूप चढ़ आई है, लेकिन रामचरण है कि खाट पर पड़ा है।

दिनमणि ने पति से कहा, "सुनते हो जी, लड़का सो रहा है और वक्त इतना हो गया। उसे क्या स्कूल नहीं जाना है ? जगा क्यों नहीं देते ?"

रामरत्न अखबार पढ़ रहे थे, युद्ध में अनी का समय आया ही चाहता है, बोले, "क्या ! रामचरण !—तो ?"

"तो क्या," पत्नी कपार पर हाथ रखकर बोली, "सूरज सिर पर आजायगा, तब वह उठेगा ? एक तो कमजोर है और तुमने आँख फेर रखी है। कहती हूँ, स्कूल नहीं भेजोगे ? या ऐसे ही उसे नवाब बनाने का इरादा है ? तुमने ही उसे सिर पर चढ़ा रखा है।"

रामरत्न ने कहा, "क्या बात है—बात क्या है ?"

दिनमणि का भाग्य ही वाम है। वैसा पुत्र और ऐसा पति ! बोली—

"बात क्या है—तब से कह तो रही हूँ कि अपने लाड़ले को चल कर उठाओ। पता है, नौ बजेंगे !"

रामरत्न ने अन्दर जाकर जोर से कहा, "रामचरण ! उठोगे नहीं। या तुम्हें पढ़ने का ख्याल नहीं है ?"

करवट लेकर रामचरण ने पिता की ओर देखा।

उन आँखों में निर्दोष आलस्य था और आज्ञापालन की शीघ्रता नहीं थी। पिता ने कहा, "चलो, उठो, सुना नहीं।"

मालूम हुआ कि रामचरण ने सचमुच नहीं सुना है। वह झट-पट उठकर बैठ नहीं गया। पिता ने हाथ से पकड़ कर उसे खींचते हुए कहा, "चलो, उठते हो कि नहीं ? दिन चढ़ आया है और दुनिया स्कूल गई। नवाब साहब सोते पड़े हैं।"

रामचरण पहले झटके में ही उठकर सीधा हो गया। अब वह आँखें मल रहा था। पिता ने कहा, "चलो, जल्दी निबटो, और स्कूल जाओ। क्या तमाशा बना रखा है, अपने स्कूल का तुम्हें खयाल नहीं है ?"

रामचरण बिस्तर से उठकर चल दिया। दिनमणि उसी कमरे

में एक ओर खड़ी यह देख रही थी। उसके जाने पर बोली, "मिजाज तो देखो इस शरीर के। इतना भौंकवाया तब कहीं जाकर उठा है। और अब भी देखो तो मुँह चढ़ा हुआ है।"

अखबार रामरत्न के हाथ में ही था, बोले, "उसके नाश्ते-वाश्ते को निकाल रखो कि जल्दी स्कूल चला जाय। देर न हो। बच्चा है, एक रोज आँख नहीं खुली तो क्या बात है?"

दिनमणि इसका उपयुक्त उत्तर देने को ही थी कि रामरत्न चलकर अपनी बैठक में आ गए और रूस-जर्मन मोर्चे का नया नक्शा अपने मन में बैठाने लगे। पर नक्शा ठीक तरह वहाँ जम नहीं सका क्योंकि जहाँ रोस्टोव चाहते हैं वहाँ रामचरण आ बैठता था। तब रामचरण पर उन्हें करुणा होने लगी। मानो वह अनाथ हो। माता है, पिता है पर जैसे उस बालक का फिर भी संगी कोई नहीं है। उन्हें अपने पर और अपनी नौकरी का क्षोभ होने लगा कि देखो वह लड़के के लिए कुछ भी समय नही दे पाते। घर में रहकर बालक पराया हुआ जा रहा है।

इसी समय सुनते क्या हैं कि अन्दर कुछ गड़बड़ मच उठी है। जाकर मालूम हुआ कि रामचरण (दिनमणि ने साहब बहादुर कहा था) नहाया नहीं है, न ठीक तरह मञ्जन किया है और मैं कहती हूँ तो बदलकर नया निकर भी नहीं पहिनता है?

मैंने कहा, "निकर बदल लो, रामचरण?"

उसने कहा, "देर हो जायगी।"

मैंने कहा, "आधी मिनट में क्या फर्क होता है, इतने के लिए माँ का कहना नहीं टाला करते भाई।"

रामचरण ने इस पर जाकर निकर बदल लिया और बस्ता लेकर चलने को तैयार हो गया।

स्कूल जाते समय रोज़ यह एक आना पैसा ले जाता है। देते समय पिता उससे तर्क करते हैं कि ऐसी-वैसी चीज़ बाज़ार की लेकर नहीं खानी चाहिए, समझे? पर वह बात ऊपरी होती है और पिता अपना टैक्स देना नहीं भूलते। उसको जाते देख पिता ने कहा, "क्यों आज चार पैसे यहीं ले जाओगे?"

उसके आने पर कहा, "नाश्ता तो करते जाओ और पैसे भी ले जाना।"

उसने सुन लिया। उसका मुँह गिरा हुआ था और बोला नहीं।

रामरत्न ने सोचा कि स्कूल में शायद देर हो जाने का उसे डर है। थपकाते हुए वह उसे मेज पर ले गये और खुद मँगा कर नाश्ते की तश्तरी उसके सामने रख दी। कहा कि मैं हैडमास्टर को चिट्ठी लिख दूँगा, देर के लिए वह कुछ नहीं कहेंगे। अब तुम खाओ। तभी उन्होंने घड़ी देखी। साढ़े आठ हो गये थे और उन्हें सब नित्यकर्म शेष था।

"खाओ बेटा, खाओ।" कहते हुए वह वहाँ से चल दिये।

स्नान समाप्त कर पाये थे कि बाहर से दिनमणि ने सुनाकर कहा—

"देखो जी, तुम्हारे साहबजादे बिना खाये-पिये जा रहे हैं। फिर जो पीछे तुम मुझे कहो।"

रामरत्न शीघ्रता से केवल धोती पहने और अँगोछा कन्धे पर रखकर बाहर आये, रामचरण से बोले, "नाश्ता करते जाते, बेटे!"

रामचरण का मुँह सूखा था और गिरा हुआ था। उसने कुछ जवाब नहीं दिया।

"क्यों तबीयत तो खराब नहीं?"

रामचरण ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से पिता को देखा और

अब भी कुछ बोला नहीं। पिता को ऐसा लगा कि उन आँखों में पानी तिर आना चाहता है। उन्हें कुछ समझ न आया। हठात् बोले, "माँ से नाराज नहीं होना चाहिए। भई वह जो कहती है तुम्हारे भले के लिए ही कहती है। आओ चलो, कुछ नाश्ता कर लो।"

रामचरण फिर एक बार मुँदी आँखों से देखकर मुँह लटकाये वहीं-का-वहीं खड़ा रह गया।

पिता ने इसपर किंचित् पुत्र को उपदेश दिया और फिर भी उसे वहीं अचल देखकर किंचित् रोष में उसे छोड़कर चल दिये। वहीं से पुकारकर पत्नी से उन्होंने कहा, "नहीं खाता है तो जाने दो।" और रामचरण के प्रति कहते गये, "हमारे बक्स में पर्स होगा, उसमें से अपनी इकन्नी लेते जाना समझे? भूलना नहीं।"

रामरत्न संध्या बीते घर लौटे तो देखा कि रामचरण खाट पर लेटा हुआ है। और रोज अब तक वह खेल से मुश्किल से लौट पाता था। यह भी मालूम हुआ कि उसने खाना नहीं खाया है और उसकी माँ ने काफी उसे कहा-सुना है।

रामरत्न विचारशील हैं, पर उन्हें अति अच्छी नहीं लगती। सब सुनकर उन्होंने जोर से कहा, "रामचरण, क्या बात है जी?"

दफ्तर से वह इसी उधेड़-बुन में चले आ रहे थे। डर रहे थे कि घर में कहीं बात बढ़ी न हो। उनके मन में पुत्र के लिए करुणा का भाव था। उन्हें अपना बचपन याद आता था कि किस तरह बचपन में उन्हें ही गलत समझा गया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इन्ट्रेन्स में पढ़ी 'होमकमिंग' कहानी का वह लड़का याद आता था, जिसका नाम चाह कर भी वह स्मरण न कर पाते थे। उसकी बात सोचकर उनके रोंगटे खड़े हो जाते थे। विचार करते थे कि

लड़कों की अपनी स्वप्न की दुनिया अलग होती है। हम बड़ों का प्रवेश वहाँ निषिद्ध है। अपने स्वप्नों पर चोट वह नहीं सह सकते। हम बड़ों को इसका ख्याल रखना चाहिए।

लेकिन जब घर में पैर रखते ही दिनमणि ने रामचरण की उद्दण्डता और अपने धैर्य की बात सुनाई तो उन्हें मालूम हुआ कि सचमुच लड़के में जिद बढ़ने देनी नहीं चाहिए। यह बात सच थी कि दिनमणि ने स्कूल से लौटने पर पुत्र से खाने के लिए आध-घण्टे तक अनुरोध किया था। उस सारे काल रामचरण मुँह फेर खाट पर पड़ा रहा था। उकताकर अन्त में उत्तर में उसने तीन बार यही कहा था, "मैं नहीं खाऊँगा, नहीं खाऊँगा, नहीं खाऊँगा।" यह उत्तर सुनकर दिनमणि खाट से उठ खड़ी हुई थी और उसने तथ्य की बातें बिना लाग-लपेट के रामचरण को वहीं-की-वहीं सुना दी थीं। रामचरण सब को पीता चला गया था।

यथार्थ स्थिति का परिचय पाकर रामरत्न दफ्तर के कपड़ों में ही अन्दर जाकर उसे डपटकर बोले, "रामचरण, क्या बात है जी?"

रामचरण ने पिता के स्वर पर चौंककर ऐसे देखा, जैसे कहीं किसी खास बात के होने का उसे पता न हो, और वह जानना चाहता हो।

रामचरण की आँखों में फैली इस शिशुवत् अबोधता पर पिता को और तैश हो आया। बोले, "खाना तुमने क्यों नहीं खाया जी? तुम्हारी मन्शा क्या है? क्या चाहते हो? क्या घर में किसी को चैन लेने देना चहीं चाहते? सब तुम्हारी खुशामद करें, तब तुम खाओगे? आखिर तुम क्या चाहते हो? रोज़-रोज़ यह तमाशा किस लिए?"

इसी तरह दो-तीन मिनट तक रामरत्न क्रोध में अपनी बात

कहते चले गये। रामचरण खाट पर पड़ा आँख फाड़े उन्हें देख रहा था। जैसे वह कुछ न समझ रहा हो।

पिता ने वहीं से पत्नी को हुक्म देकर कहा, "लाना तो खाने को, देखें कैसे नहीं खाता है ?"

दिनमणि खाना लेने गई और पिता ने पुत्र को कहा, "अब और तमाशा न कीजिए। हम समझते थे आप समझदार हैं। लेकिन दीखता है आप इसी तरह बाज़ आइएगा।"

रामचरण तत्क्षण न उठता दिखाई दिया तो कड़क कर बोले, "सुना नहीं आपने, या अब चपत लगे ?"

रामचरण सुनकर एक साथ उठकर बैठ गया। उसके मुख पर भय नहीं, विस्मय था और वह पिता को आँख फाड़कर चकित बना-सा देख रहा था।

खाने को थाली आई और सामने उसकी खाट पर रखदी गई। पर उसकी ओर रामचरण ने हाथ बढ़ाने में शीघ्रता नहीं की!

पिता ने कहा, "अब खाते क्यों नहीं हो ? देखते तो हो कि मैंने दफ्तर के कपड़े भी नहीं उतारे, क्या मैं तुम्हारे लिए कयामत तक यहीं खड़ा रहूँगा ? चलो, शुरू करो।"

रामचरण फिर कुछ देर पिता को देखता रहा! अन्त में बोला, "मुझे भूख नहीं है।"

"कैसे भूख नहीं है ?" पिता ने कहा, "सबेरे से कुछ नहीं खाया। जितनी भूख हो उतना खाओ।"

रामचरण ने उन्हीं फटी आँखों से पिता को देखते हुए कहा, "भूख बिल्कुल नहीं है।"

पिता अब तक जब्त से काम ले रहे थे। लेकिन यह सुनकर

उनका धैर्य छूट गया और उन्होंने एक चाँटा कनपटी पर दिया, कहा, "मक्कारी न करो, सीधी तरह खाने लग जाओ।"

इस पर रामचरण बिल्कुल नहीं रोया, न शिकायत का भाव उस पर दिखाई दिया। वह शान्त-भाव से थाली की तरफ़ हाथ बढ़ा कर टुकड़ा तोड़ने लगा। माता और पिता दोनों पास खड़े हुए देख रहे थे। रामचरण का मुँह सूखा था और ऐसा लगता था कि कौर उससे चबाया नहीं जा रहा है। इस बात पर उसके पिता को तीव्र क्रोध आया, पर जाने किस विधि वह अपने क्रोध को रोके रह गये।

पाँच-सात कौर खाने के बाद रामचरण सहसा वहाँ से उठा, जल्दी-जल्दी चलकर बाहर आया, नाली पर पहुँच कर सब कै कर बैठा।

पिता यह सब देख रहे थे। मुँह साफ़ करके रामचरण लौटा तो पिता ने कठिनाई से अपने को वश में करके कहा, "अच्छा हुआ। क़ै तो अच्छी चीज़ है। अब स्वस्थ हो गये होगे, लो अब खाओ।"

रामचरण ने आँखों में पानी लाकर कहा, "मुझे भूख बिल्कुल नहीं है।"

"लेकिन तुमने सबेरे से खाया ही क्या है?" पिता ने कहा। "देखो रामचरण, यह सब आदत तुम्हारी नहीं चलेगी। ज़िद की हद होती है। या तो सीधी तरह खालो, नहीं तो अब से हमसे तुम्हारा वास्ता नहीं—बोलो, खाते हो?"

रामचरण ने कहा, "मुझे भूख नहीं है।"

इस पर पिता ज़ोर से बोले, "लो जी, ये उठा ले जाओ थाली। अब इनसे ख़बरदार जो तुमने कुछ कहा। हम तो इनके लिए कुछ हैं ही नहीं। फिर कहना-सुनना क्या?"

थाली वहाँ से उठ गई और रामचरण बिना कुछ बोले हक्का-बक्का-सा पिता को देखता रह गया। पिता वहाँ से जाते-जाते पुत्र से बोले, "सुनिये, अब आपका राज़ है, जो चाहे कीजिए, जो चाहे न कीजिए। हमने आपको इसी रोज़ के लिए पाला था।" कहते-कहते उनकी वाणी गद्गद हो आई। बोले, "ठीक है, जैसी आपकी मर्ज़ी। बुढ़ापे में हमें यही दिन दिखाइएगा।"

कहते हुए पिता वहाँ से चले गये। रामचरण की आँखों में आँसू आ गये थे। पर पिता के जाने पर अपना सिर हाथों में लेकर वह वहीं खाट पर पड़ गया।

रात होती जाने लगी। पर पिता के मन का उद्वेग शान्त होने में न आता। उनको रोष था और अपने से खीज थी। वह विचारवान् व्यक्ति थे। सोचते थे, लड़के में दोष हमसे ही आ सकता है। त्रुटि कहीं हममें ही होगी। लेकिन खयाल होता था, जिद अच्छी नहीं है। दिनमणि का कहना है कि लड़के को शुरू से काबू में नहीं रक्खा, इससे वह सिर चढ़ गया है। क्या यह ग़लती है? क्या डाँटना बुरा है? लाड़ से बच्चे बेशक सम्भल नहीं सकते। लेकिन मैंने कब उसकी तरफ ध्यान दिया है। उसने कभी कुछ पूछा है तो मैंने टाल दिया है। न उसकी माँ ही समय दे पाती है। मैं समझता हूँ कि लापरवाही है जिससे उसमें यह आदत आई है।

सोचते-सोचते उन्होंने पत्नी को बुलाया और पूछा और जिरह की। वह कहीं-न-कहीं से बच्चे से बाहर दोष को पा लेना चाहते थे। पर जिरह से कुछ फल नहीं निकला। उन्हें मालूम हुआ कि वह स्कूल से घर रोज़ से कुछ जल्दी ही आया था।

"पूछा नहीं, जल्दी क्यों आया है?"

"नहीं, मैं तो उससे कुछ पूछती नहीं, मुँह लटकाये आया और चादर लेकर खाट पर लेट गया। कुछ बोला न चाला।"

तब पिता ने ज़ोर से आवाज़ देकर पुकारा, "रामचरण !"

सुनकर रामचरण वहाँ आ गया।

पूछा, "तुम आज स्कूल पूरा करके नहीं आये ?"

"नहीं।"

"पहले आगये ?"

"हाँ"

"क्यों ?"

इसका उत्तर लड़के ने नहीं दिया। झुककर पास की कुर्सी का सहारा ले वह पिता को देखने लगा।

पिता ने कहा, "सहारा छोड़ो, सीधे खड़े हो। तुम बीमार नहीं हो। और सुनो, तुम सबेरे बिना-खाये गये और किसी की बात नहीं सुनी। स्कूल बीच में छोड़कर चले आये। आये तो रूठकर पड़ रहे। और इतना कहा तो भी अब तक खाना नहीं खाया। बताओ, ऐसे कैसे चलेगा !"

लड़का चुप रहा।

पिता ज़ोर से बोले, "तुम्हारे मुँह में जुबान नहीं है ? कहते क्यों नहीं, ऐसे कैसे चलेगा ? बताओ, इस ज़िद की तुम्हें क्या सज़ा दी जाय ? देखते नहीं, घर-भर में तुम्हारी बजह से क्लेश मचा रहता है।"

लड़का अब भी चुप ही था।

अत्यन्त संयमपूर्वक पिता ने कहा, "देखो, मेरी मानो तो अब भी खाना खा लो और सबेरे समय पर स्कूल चले जाना। आइन्दा ऐसा न हो। समझे ? सुनते हो ?"

लड़के की आँखें नीची थीं। कुछ मध्यम पड़कर पिता ने कहा, "भूख नहीं है तो जाने दो। लेकिन कल सबेरे नाश्ता करके ठीक वक्त से स्कूल चले जाना। देखो, इस उम्र में मेहनत से पढ़ लोगे और माँ-बाप का कहना मानोगे तो तुम्हीं सुख पाओगे। नहीं तो पीछे तुम्हें ही पछताना होगा। लो जाओ, कैसे अच्छे बेटे हो। बोलो, खाओगे ?"

जाते-जाते रामचरण ने कहा, "मुझे भूख नहीं है।"

पिता का जी यह सुनकर फिर खराब हो आया। लेकिन उन्होंने विचार से काम लिया और अपने को संयत रखा।

अगले दिन देखा गया कि वह फिर समय पर नहीं उठ सका है। जैसे-तैसे उठाया गया है तो अनमने मन से काम कर रहा है। नाश्ते को कहा गया तो फिर नाश्ता नहीं ले रहा है।

पिता ने बहुत धैर्य से काम लिया। लेकिन कई बार अनुरोध करने पर भी जब रामचरण ने यही कहा कि भूख नहीं है तो उनका धीरज टूट गया। तब उन्होंने उसे अच्छी तरह पीटा और अपने सामने नाश्ता कराके छोड़ा।

उसके स्कूल जाने पर उनमें आत्मालोचना और कर्तव्य-भावना जागृत हुई। उन्होंने सोचा कि सायंकाल का समय वह मित्र-मण्डली से बचाकर पुत्र को दिया करेंगे। उसे अच्छी-अच्छी बात बताएँगे और पढ़ाई की कमजोरी दूर करेंगे। पत्नी से कहकर रामचरण की अलमारी में से उन्होंने उसकी किताब और कापियाँ मँगाईं। वह कुछ समय लगाकर रामचरण की पढ़ाई-लिखाई के बारे में परिचय पा लेना चाहते थे। पहले उन्होंने पुस्तकें देखीं, फिर कापियाँ देखीं। कापियों से अन्दाजा हुआ कि उसका कम्पोजीशन बहुत खराब है और भाषा का ज्ञान काफी नहीं है। किन्तु अन्तिम कापी जो सबसे

साफ़ और बढ़िया थी, जिस पर किसी विषय का उल्लेख नहीं था; उसको खोला तो वह देखते-देखते रह गये। सुन्दर-सुन्दर अक्षरों में पुस्तकों में से चुने हुए नीति-वाक्य बालक ने उस कापी में अङ्कित किए हुए थे। जगह-जगह नीचे लाल स्याही से महत्त्वपूर्ण अंशों पर रेखा खिंची हुई थी। उसमें पहले ही सफ़े पर पिता ने पढ़ा :

"बड़ों की आज्ञा सदा सुननी चाहिए और कभी उनको उत्तर नहीं देना चाहिए।"

"दुःख सहना वीरों का काम है। अपने दुःख में सज्जन पुरुष किसी को कष्ट नहीं देते और उसे शान्ति से सहते हैं।"

"रोग मानने से बढ़ता है। रोग की सबसे अच्छी औषधि निराहार है।"

"घर ही उत्तम शिक्षालय है। सफल पुरुष पाठशाला में नहीं, जीवनशाला में अध्ययन करते हैं।"

"दृढ़ संकल्प में जीवन की सिद्धि है। जो बाधाओं से नहीं डिगता, वही कुछ करता है।"

पहले पृष्ठ के ये रेखाँकित वाक्य पढ़कर कापी को ज्यों-का-त्यों खोले पिता सामने शून्य में देखते रह गये।

दफ्तर में भी वह शान्ति न पा सके। शाम को लौटे तो मानो अपने को क्षमा न कर पाते थे। घर आने पर पत्नी ने कहा, "अरे उसे देखो तो, तब से ही कै हो रही है।"

रामरत्न ने आकर देखा। रामचरण शान्त-भाव से लेटा हुआ था।

पत्नी ने कहा, "स्कूल से आया तो निढाल हो रहा था। मुश्किल से दीवार पकड़ करके जीना चढ़ के आया। और तब से

दस बार कै हो चुकी है। पूछती हूँ तो कुछ कहता नहीं। देखो न क्या हो गया है?"

पिता ने कहा, "रामचरण, क्या बात है?"

रामचरण ने कहा, "कुछ नहीं, मतली है।"

"कल भी थी?"

"हाँ।"

पिता को और समझना शेष न रहा। वह यह भी न पूछ सके कि ऐसी हालत में क्यों तुम दोनों रोज दो-दो मील पैदल गये और आये। बस, उनकी आँखें भर आईं और वह डाक्टर लाने की बात सोचने लगे।

रामचरण ने उनकी ओर देखकर कहा, "कुछ नहीं है बाबूजी, न खाने से सब ठीक हो जायगा।"

फोटोग्राफी

: १ :

बहुतेरा पढ़ने-लिखने के बाद और माँ के बहुत कहने-सुनने पर भी जब रामेश्वर को कमाने की चिन्ता न हुई, तो माँ हार मानकर रह गई। रामेश्वर की बाल-सुलभ प्रकृति चाहती थी कि रुपये का अभाव तो न रहे; पर कमाना भी न पड़े। दिनका बहुत-सा समय वह ऐसी ही कोई जुगत सोचने में बिता देता था। खर्च के लिए रुपये मिलने में कुछ हीला-हवाला होते ही, वह अपने को बड़ा कोसता था, बड़ा धिक्कारता था, मन-ही-मन प्रतिज्ञा करता था कि कल से ही किसी काम में लग जाऊँगा; और माँ से अनुनय-विनय करने पर या लड़-झगड़कर जब रुपया मिल जाता था, तब भी वह प्रतिज्ञा को भूलता नहीं था; पर जब अगला सवेरा होता तो फिर वह कोई सहल-सी जुगत ढूँढने की फिक्र में लग जाता।

माँ ने भी होनहार को सिर नवाकर स्वीकार कर लिया। इस तेइस वर्षके पढ़े-लिखे निर्जीव काठ के उल्लूको, दुलार के साथ अच्छा-

अच्छा खिला-पिलाकर पालते-पोसते रहना माँ ने अपना कर्त्तव्य समझा।

रामेश्वर बड़े भले स्वभाव का युवक था। उसके चलन में जरा भी खोट न थी; पर था वह आनन्दी और निश्चिन्त स्वभाव का। उसने प्रशंसनीय सफलता के साथ बी० ए० पास किया था, पर वह यह नहीं जानता था कि इस दो शब्द की पूँछ से कहाँ और किस तरह फ़ायदा उठाया जा सकता है। इस पूँछ के लगने के बाद, एक विशिष्ट गौरव से सिर उठाकर, राह-चलते नेटिव लोगों पर हिकारत की निगाह डालते हुए चलने का अधिकार मिल जाता है—यह भी वह मूर्ख न समझता था।

इस फोटोग्राफी की सूझ के बाद अब वह बिल्कुल ऐरे-गैरे लोगों में अपना कैमरा बाँह पर लटकाये और हाथ में स्टैण्ड को छड़ी के मानिन्द घुमता हुआ कहीं भी देखा जा सकता है। उसकी अपनी खींची हुई अच्छी-बुरी तस्वीरों के सँग्रह में आप एक जाट को दिल्ली के चाँदनी चौक के फुट-पाथ पर बोतल लगाये सोडा-वाटर गकटते पा सकते हैं, होली के उत्सव की खुशी में रंग-बिरंगे उछ-लते-कूदते आठ-आठ दस-दस ग्रामीणों की नाचती हुई उन्मत्त टोलियों को पा सकते हैं। सारांश यह कि उसके चित्र अधिकतर साधारण कोटि के लोगों में से लिये गये हैं। वह उनसे जितना अपनापा कर सकता है, उतना बड़े आदमियों से नहीं।

यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि वह कोई धनिक का पुत्र नहीं है। उसे अपने खर्च के लिए चालीस मासिक मिलते हैं; लड़-झगड़ कर दस रुपए मासिक तक और मिल जाते हैं,—ज्यादा नहीं। रामेश्वर यह जानता है, और वह जहाँ तक होता है चालीस से अधिक न लेने का ही प्रयत्न करता है। कभी अधिक खर्च होता

है, तो वह अपने ऊपर जब्र करके, इधर-उधर के खर्चों से काट-छाँट कर पूरा कर लेता है।

: २ :

जब वह अलीगढ़ गया, तो साथ में छह प्लेट ले गया था। पहुँचने के दिन ही उसने छहों खींच डाले। चार सँभालकर बेग में रख लिये, दो स्लाइड में ही रहने दिये।

लड़के, जिन्हें प्रकृति ने परमात्मा की तरह निर्दोष बनाकर भी, उनमें ताक-झाँक और तोड़-फोड़ की उत्सुकता भरकर शैतान बनाया था, और जिन्हें रामेश्वर ने स्लाइड को हाथ न लगाने की सख्त ताकीद कर दी थी, हठात् छेड़-छाड़ किये बिना रह न सके। भीतर क्या जादू है, यह जानने के लालच से उन्होंने स्लाइड खोल डाली, प्लेट का काँच निकाल लिया और पटककर तोड़ दिया।

जब रामेश्वर अलीगढ़ स्टेशन पर दिल्ली आनेवाली एक्सप्रेस के एक ड्योढ़े दर्जे में घुसा, तो एक भरी, एक खाली, दो स्लाइड उसके पास थीं।

गाड़ी चलते ही सामने की बेंच पर एक रूठते हुए बालक की ओर उसका ध्यान गया। उस बालक को केले की आशा दिलाई गई थी; पर केले-वाला खिड़की के पास आया ही था, कि गाड़ी चल दी। इसी पर बच्चा मचल रहा था।

"क्यों मचल रहे हो बेटा; अगले स्टेशन पर केले मँगा दूँगी"—उसकी माँ उसे मनाने के लिए कह रही थी।

बच्चा बहुत ही सुन्दर था। लाली छाये हुए उसके गोरे-गोरे गाल और माथे के दोनों ओर खेलते हुए उसके टेढ़े-मेढ़े बाल नये

फ़ोटोग्राफर को अलौकिक जान पड़े। उसने ऐसा सुन्दर बालक कभी न देखा था।

और हाँ, माँ बिल्कुल बालक के अनुरूप थी। वही स्वच्छ खिला हुआ रूप, और वही मधुर आकृति; पर माता में सलज्ज संकोच था, और बालक में लज्जा से अछूता चाञ्चल्य।

बालक मचला हुआ था, किसी तरह नहीं मानता था।

रामेश्वर ने कैमरा खोला। कहा, "आओ श्याम, तुम्हें एक तमाशा दिखाएँ।"

कैमरे को देखते ही बालक श्याम केलेवाले को और केले पर अपने रूठने को भूल गया। तुरन्त रामेश्वर की गोद में आ बैठा।

रामेश्वर ने पूछा, "तस्वीर खिंचवाओगे?"

श्याम ने ताली बजाकर कहा, "खिंचवाएँगे।"

माँ बालक की प्रसन्नता से खिल उठीं और अनायास बोल पड़ीं, "हाँ खींच दो।"

रामेश्वर ने बालक को माँ के पास बेंच पर बिठाकर अपने कैमरे को ठीक जमाना शुरू किया।

बालक बड़े उल्लास से, एक अद्भुत चीज़ पा जाने की आशा में कैमरे के लेंस की तरफ़ एकटक देख रहा था। माँ भी यह ध्यान से देख रहीं थीं, कि फ़ोटोग्राफ़ी कैसे होती है।

रामेश्वर ने कैमरा ठीक कर लिया। फिर न-जाने उसे क्या सूझा कि सकुचाते हुए वह माँ से बोला, "इसमें आपकी भी तस्वीर आ जाती है, कुछ हर्ज तो नहीं?"

माँ ने कुछ उत्तर न दिया, उन्होंने बेग में से चश्मा निकालकर

पहना और अपने कपड़ों की सलवट ठीक कर बच्चे के पास आ बैठीं।

रामेश्वर के पास खाली स्लाइड थी। उसने फ़ोकस लगाया, श्याम को लेंस दिखाकर कह रखा, 'इसमें से चिड़िया निकलेगी।' फिर नियमित रूप से एक-दो-तीन किया और कह दिया, "फोटो खिंच गई।"

तमाशा था, खतम हुआ। रामेश्वर जब कैमरे को बन्द करके रख देने की तैयारी में था, तो उससे कहा गया, "लाइए, तस्वीर दीजिए।"

वह बड़ी उलझन में पड़ा। तस्वीर खींची ही कहाँ थी ? वह तो झूठमूठ का तमाशा था। स्लाइड तो खाली थी और तस्वीर खिंचती भी तो दी कैसे जा सकती थी ? उसे तैयार करने में अभी तो कम से-कम दो दिन और लगते; पर उसने फिर सुना, "जितने दाम हों ले लीजिए, तस्वीर दे दीजिए।"

उसकी घबड़ाहट बढ़ती जा रही थी। क्या वह कह दे—तस्वीर नहीं खींची गई, वह तो सिर्फ धोखा था और तमाशा था ? नहीं, वह नहीं कह सकता ? माँ ने कितनी उमंग के साथ अपने बालक की और अपनी तस्वीर खिंचवाई है ! क्या वह सच-सच कहकर उनके मनको अब मार देगा ? नहीं, सच बात कहना ठीक नहीं।

"देखिए, यह ठीक नहीं है, तस्वीर दे दीजिए।"

रामेश्वर ने कहा, "तस्वीर अभी कैसे दी जा सकती है ? उसे धोना होगा, छापना होगा—तब कहीं वह तैयार होगी।"

माँ ने कहा, "धोनी होगी ? खैर, हम लाहौर में धुलवा लेंगे।"

रामेश्वर बोला, "जी नहीं, उसे जरा-सा प्रकाश लगेगा कि वह खराब हो जायगी ?"

अगर सचमुच तस्वीर होती, तो रामेश्वर स्लाइड समेत उसे बिना दाम भेंट करके कितना प्रसन्न होता! पर अब वह मरा जा रहा था। कैसी बुरी विडम्बना में फँस गया था वह!

उसे सुनना पड़ा, "यह ठीक नहीं है! जो हो आप तस्वीर दे दीजिए। हमें यह नहीं मालूम था।"

रामेश्वर क्या कहे! बोला, "क्या आप यह समझती थीं तस्वीर अभी तैयार हो जायगी, और आपको मिल जायगी?"

जवाब मिला, "हमें यह नहीं मालूम था कि तस्वीर आपके ही पास रहेगी।"

रामेश्वर ने कहा, "तो, इसमें हर्ज ही क्या है?"

महिला अकेली नहीं थीं। उनके साथ एक महिला और थीं। एक पुरविया बुड्ढा नौकर था, और कई बाल-बच्चे थे। उन्होंने क्षण-भर अपनी साथिन की ओर देखा; देखकर कहा, "नहीं, नहीं, आप दे दीजिए।"

रामेश्वर अभी तक कभी का दे देता, पर दे तो तब, जब हो। उसने कहा, "देने के माने उसे खराब कर देना है। इससे तो अच्छा उसे तोड़ ही दिया जाय। आप मेरा परिश्रम क्यों व्यर्थ करवाती हैं?"

उन्होंने फिर साथिन की ओर ऐसे देखा, जैसे वह स्वयं रामेश्वर को छुटकारा दे देना चाहती हैं। पर शायद साथिन की ओर से उन्हें संकेत मिला—लाहौर जाकर यह बात छिपी न रहेगी, फिर कैसा होगा? उन्होंने कहा, "तो तोड़ डालिए।"

रामेश्वर ने सोचा—अगर, कहीं दूसरी महिला भी फ़ोटो में आ गई होतीं, तो शायद कठिनता न होती। उसने अपील करते हुए कहा, "जी, देखिए मैं दिल्ली रहता हूँ, आप लाहौर जा रही हैं। मेरा आपका परिचय भी नहीं है। इस दिनको छोड़कर शायद फिर

कभी मिलना भी न होगा। मैं व्यवसायी फ़ोटोग्राफ़र भी नहीं हूँ। आपको मैं वचन देता हूँ, मेरे पास तस्वीर रहने में, आपका कुछ भी अहित न होगा।"

माँ ने फिर अपनी साथिन की ओर देखा; पर उनकी तो तस्वीर खिंची न थी। माँ ने कहा, "आप अखबार में भेज देंगे, अपने यहाँ लगा लेंगे।"

रामेश्वर ने तुरंत कहा, "मैं वचन देता हूँ, न मैं लगाऊँगा, ना कहीं भेजूँगा; पर आप मेरा परिश्रम व्यर्थ न कीजिए।"

माँ को विश्वास हो चुका था, कि यह बात लाहौर में बालक के पिता तक अवश्य पहुँचेगी। वह बेचारी क्या करतीं? बोलीं, "नहीं, आप तोड़ ही दीजिए।"

वह इतना अविश्वासी समझा जा रहा है, इस पर रामेश्वर भीतर से बड़ा घुट रहा था। इच्छा हुई कि सच-सच बात कह दूँ; पर ध्यान हुआ—उसे सच कौन मानेगा? मैं कहूँगा, तस्वीर नहीं खिंची, सिर्फ बालक को बहलाने को तमाशा किया गया था, तो कोई यकीन न करेगा। वह समझेंगी—मैं तस्वीर रखना चाहता हूँ, इससे झूठ बोलता हूँ और बहाने बनाता हूँ। रामेश्वर को इस लाचारी पर बहुत दुःख हुआ; परन्तु उसने कहा, "अगर आप कहेंगी, तो मैं तस्वीर को तोड़ ही दूँगा; पर मैं फिर आपसे कहता हूँ, मैं दिल्ली चला जाऊँगा। फिर आपके दर्शन कभी मुझे नहीं होंगे। अगर आपकी तस्वीर मेरे पास रही भी, और मैंने टाँग भी ली, तो इसमें आपका क्या हर्ज है? देखिए, बालक श्याम का चित्र मेरे पास रहने दीजिए। आपके चित्र के बारे में मैंने आपसे पहले ही पूछ लिया था। आपका यह श्याम मुझे फिर कब मिलेगा? इसके दर्शन को आप मुझसे क्यों छीनती हैं?"

वह बोलीं, "हाँ, श्याम का चित्र आप दूसरा ले लीजिए।"

किन्तु दुर्भाग्य, रामेश्वर के पास खाली प्लेट तो कोई नहीं है। होता तो यह बखेड़ा ही क्यों उठता ? कहा, "खेद कि मेरे पास खाली प्लेट ही कोई नहीं है।"

जब उसने अपना पीछा छूटते न देखा, तो हार मानकर कहा—"अच्छा लीजिए।"—और भरी स्लाइड को खोल डाला।

उससे कहा गया, "देखिए, आप बदल न लीजिएगा।

"इतना अविश्वास न करें।"—यह कहकर उसने स्लाइड का प्लेट निकाल कर चलती हुई रेल के नीचे छोड़ दिया।

जिनकी फ़ोटो न खिंची थी, उनको शायद सन्देह बना ही रहा। रामेश्वर से कहा गया, "ज़रा वह दिखलाइए तो, देखें आपने फेंका भी या नहीं।"

रामेश्वर मर-सा गया। उसने उठकर श्याम के सिर पर हाथ रखते हुए कहा, "बालक के सिर पर हाथ रखकर कहता हूँ, मैं इतना असत्यवादी नहीं हूँ। यह कहकर स्लाइड उसने 'माँ' को दे दिया।"

स्लाइड को खोल कर, उसके एक-एक हिस्से को उँगली से दबा-दबा कर, और हरेक कोना टटोल कर, साथिन महाशया के यह प्रमाण दे देने पर कि अब सचमुच स्लाइड में कोई चीज़ नहीं है, रामेश्वर के प्रति उनको थोड़ा-थोड़ा विश्वास होने लगा।

रामेश्वर ने अब श्याम से खूब दोस्ती पैदा कर ली, और दिल्ली पहुँचते-न-पहुँचते वह श्याम का पक्का मामा बन गया।

उन्हें आराम से लाहौर की गाड़ी में बिठा कर, उनके पैसों को अस्वीकार करके, श्याम की अम्माँ से क्षमा माँग कर, और सोते श्याम का अन्तिम चुम्बन लेकर, दिल्ली-स्टेशन पर जब रामेश्वर

उनसे सदा के लिए विदा ले लेने को था, कि उससे कहा गया—
"आपने बड़ा कष्ट उठाया। इतनी कृपा और करें कि सबेरे तार दे दें।"

हाथ से एक रुपया रामेश्वर की ओर बढ़ाते हुए माँ ने लाहौर का अपना पता लिखवा दिया।

पता लिखते ही रामेश्वर भाग गया। 'यह लेते जाइए' की आवाज़ उसके पीछे दौड़ी पर वह नहीं लौटा। स्टेशन के बाहर आते ही, जब माँ के नौकर ने उसे पकड़कर रुपया हाथ में थमाना चाहा, तब उसने एक झिड़की के साथ कहा, "जाओ! रेल पर वह अकेली हैं। कह देना, तार सबेरे ही दे दिया जायगा।"

: २ :

तार-घर खुलते ही लाहौर तार दे देने के बाद रामेश्वर ने सोचा—उसके जीवन का एक पन्ना जीवन-क्रम से अनायास ही अलग होकर, जो एक प्रकार की रसमय घटना से रँग गया है, उसे हठात् यहीं अन्त करके मुझे अब अगला पन्ना आरम्भ कर देना होगा। उसे इस पर दुःख हुआ। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ घटनाएँ ऐसी घट जाती हैं, जिनको वह समाप्त कर देना नहीं चाहता, उनका सिलसिला बराबर जारी रखना चाहता है। श्याम को सदा के लिए भुला देना होगा—भाग्य का यह विधान उसे बहुत ही कठोर मालूम हुआ। उसकी इच्छा थी कि उसके जीवन-ग्रन्थ के अन्तिम पन्ने तक 'श्याम' और 'श्याम की अम्माँ' का सम्बन्ध चलता रहे—टूटे नहीं; परन्तु अब उनके बीच में दो सौ पचास से ज्यादा मील का व्यवधान है, और उनके जीवन की दिशाएँ भिन्न होने के कारण, उस व्यवधान को क्षण-क्षण बढ़ा रही हैं।

उसके सामने, मानों जीवन की और संसार की शून्यता एक

बड़ी-सी निराशा के रूपमें प्रत्यक्ष हो गई।' कल जो दो व्यक्ति आपस में इस तरह उलझे हुए थे, आज उन्हीं के बीच असम्भाव्यता का ऐसा व्यवधान फैला हुआ है कि पुर नहीं सकता। और कल उन्हें एक-दूसरे को भुलाकर अपना समय बिताने की और कुछ तरकीब निकाल लेनी होगी। श्याम को अपने 'मामा' को भुलाकर उसके अभाव में ही अपने तईं जीवित और प्रसन्न रखना होगा। इसी तरह श्याम को भुलाकर रामेश्वर को भी नित्य नियमित जीवन-कार्य में लग जाना होगा।

कम्पनी-बाग़ में सिर झुकाये हुए, लम्बे-लम्बे डगों से पाँच-छः मिनट सोचते-सोचते इधर-उधर घूमने के बाद, रामेश्वर ने घर आकर माँ से कहा, "अम्मा, जो कहोगी सो करूँगा। आज्ञा हो तो नौकरी कर लूँ।"

अम्माँ ने कुछ नहीं कहा, बस प्यार किया। उस प्यार का अर्थ था, "बेटा, जो चाहे सो कर। माँ के लिए तो तू सदा बेटा ही है।"

* * *

और कार्य के अभाव में, रामेश्वर, अनवरत उद्योग से साहित्य-समालोचक और राजनीतिक नेता बन बैठा।

: ४ :

लाहौर की ज़िला-कान्फ्रेंस के अध्यक्ष के आसन पर से अपना भाषण समाप्त कर चुकने के बाद, अधिवेशन की पहले दिन की कार्रवाई समाप्त करके जब रामेश्वर अपने स्थान पर आया, तो उसके कोई पन्द्रह मिनट बाद उसके हाथ में एक चिट्ठी दी गई—

"क्या मुझे चार बजे पार्क में मिल सकोगे?—श्याम की अम्माँ।"

अलीगढ़ वाले सफर के दिन से तीन सौ पैंसठ के छह-गुने दिन

गुजर चुके थे, पर हृदय-पटल पर वह दिन जो चिन्ह छोड़ गया था, उसे मिटा न सके थे। इस लम्बे काल और उसकी विभिन्न व्यस्तताओं ने उसे शुष्क कर दिया था; पर इस पत्र के इन शब्दों ने मानों एक दम उसे फिर हरा कर दिया—उसमें चैतन्य ला दिया।

रामेश्वर ने सोचा, "श्याम !–अहा ! वह भी तो साथ होगा !"

समय बिताते-बिताते जब चार बजने पर रामेश्वर पार्क में पहुँचा, तो 'श्याम की अम्माँ' उसकी तरफ आ रही थीं।

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"रामेश्वर।"

"मैं अब नाम से पुकारूँगी। रामेश्वर, क्या तुम अब फोटो उतार सकते हो?"

रामेश्वर ने देखा, वही अम्माँ हैं; पर फिर भी कुछ और हैं। उनके इस व्यग्र आग्रह को समझ नहीं पाया, थोड़ा डरने-सा लगा। बोला, "अभी तो कैमरा नहीं है। अभ्यास भी नहीं है।"

"कैमरा ला नहीं सकते।"

"अभी ?"

"हाँ, अभी !"

"अभी कहाँ से मिलेगा ?"

"क्यों ? क्यों नहीं मिलेगा ? तुम तो नेता हो, इतना नहीं कर सकोगे ?"

"जाता हूँ—कोशिश करूँगा।"—रामेश्वर ने बड़ा कड़ा दिल करके कह दिया। रामेश्वर जब विदा होकर कुछ ही दूर गया होगा, कि उन्होंने फिर बुलाकर उससे कहा, "रामेश्वर सुनो, ये रुपये लो, कैमरा न मिले, तो नया खरीद लाओ।"

"नहीं, नहीं..."

"जाओ—अभी जाओ। जल्दी से लाना, नहीं तो तस्वीर नहीं खिंचेगी—रात हो जायगी।"

रामेश्वर कुछ कह न सका। इस अनुनय-पूर्ण आज्ञा में ऐसा कुछ था, जो अनुल्लंघनीय था। वह चल दिया। माँ हत-बुद्धि-सी, पागल-सी, निर्जीव-सी वहीं-की-वहीं बैठ गईं।

घण्टे-भर बाद जब वह कैमरा लाया, तो माँ ने हँसने का प्रयत्न किया! अब तक वह शायद रो रही थीं।

माँ बड़ी सज-धज के साथ आई थीं। जब फ़ोकस ठीक करके रामेश्वर एक-दो-तीन बोलने को हुआ तो माँ ने अपनी सारी शक्ति लगाकर चेहरे पर स्मित हास्य की चमक ले आने का प्रयत्न किया। आह! वह हँसी कितनी रहस्यपूर्ण और कितनी दुःखपूर्ण थी! जितना ही उसमें उल्लास प्रकट करने का प्रयास था, उतना ही उसमें विषम पीड़ा का प्रत्यक्ष दर्शन था।

फ़ोटो खिंच चुकने पर फिर वह अपना सारा बल लगाकर बड़ी मुश्किल से सम्भली रहीं और रामेश्वर के समीप आकर बोलीं, "एक दिन तुमने श्याम की और मेरी तस्वीर साथ-साथ खींची थी, याद है न? वह मैंने तुड़वा दी थी! क्यों, भूल तो नहीं गये? अब एक काम करोगे?"

रामेश्वर ने मूक दृष्टि में अपेक्षा और उत्सुक-स्वीकृति भरकर माँ को देखा।

"सुनो, मेरा चित्र तैयार करना।"—माँ ने भीतर की जेब से एक फ़ोटो निकालकर देते हुए फिर कहा, "और यह लो श्याम का चित्र। इन दोनों का एक चित्र तैयार करना और उसका बड़े-से-बड़ा रूप (Enlargement) करके अपने यहाँ लगा लेना। यह काम तुम्हीं करना, किसी दूसरे को न देना जानते हो, श्याम तुम्हें प्यार

करता था ? दिल्ली में जब तुम गये थे वह सो रहा था। जागते ही उसने पूछा—'अम्माँ, तछवील वाले मामा क आँ एं ?' जानते हो, अब तुम्हारा श्याम कहाँ है ? क्या ताकते हो ? वह मेरी गोद में छिपकर थोड़े ही बैठा है ! यहाँ नहीं; वह बहुत बड़ी गोद में बैठा है ! देखते हो यह सब क्या है ?—आकाश है। यह आकाश ही परमात्मा की गोद है। श्याम उसी गोद में छिप बैठा है। दीखता भी तो नहीं। देखो, चारों तरफ आकाश है, चारों तरफ देखो, कहीं दिखता है क्या ? दिखे, तो मुझे भी दिखाना। मैं भी देखूँगी। चुपचाप ही चला गया। अगर मैं उसे देख पाऊँ, तो कहूँ—देख तेरा तछवील वाला मामा देख रहा है।—रामेश्वर, वह तुम्हें याद करता गया है।"

रामेश्वर का गला रुँध रहा था, मानो आँसुओं का घूँट गले में अटक गया हो। माँ की बड़ चल रही थी, मानो शरीर की बची-खुची शक्ति एकबारगी ही निकलकर खत्म हो जायगी।

"जानते हो।—यही चौथी मार्च का दिन था, इसी दिन, इसी वक्त वह गया था। मैं साल-भर से इसी चौथी मार्च को भटक रही थी। सोच रही थी—तुम मिलोगे तो तस्वीर खिंचवाऊँगी, तुम मिल गये, तस्वीर खिंच गई। दोनों को मिलाकर तुम एक तस्वीर बनाओगे न ? देखो ज़रूर बनाना। मैं कहती हूँ, ज़रूर बनाना, बड़ी-से-बड़ी बनाना और अपने कमरे में लगाना। जहाँ चाहे भेजना। अखबारों को भेजना, मित्रों को भेजना। जहाँ दीखें, श्याम और श्याम की अम्माँ साथ दीखें। अब जा रही हूँ, उसी के पास जा रही हूँ—सदा उसी के पास रहने जा रही हूँ।"

माँ की हालत शब्द-शब्द पर क्षीण होती जा रही थी। माँ ने कहा, "सुनो, एक महीना हुआ, मैं विधवा हो गई। वह भी चौथी

ही तारीख थी। चौथी तारीख और मार्च का महीना। आज की यह चौथी मार्च का दिन मेरे जीवन की अन्तिम साध का अन्तिम दिन है। आज मुझे भी अन्तर्हित हो जाना है। मैंने जहर खाया है, तीन घण्टे होने आये हैं, अब जहर की अवधि का अन्तिम क्षण दूर नहीं है। मैं फिर दुनिया में न रहूँगी।"

रामेश्वर के देखते-देखते माँ की देह निष्प्राण होकर गिर पड़ी।

* * *

लेखकी और लीडरी को गड्ढे में डाल रामेश्वर फिर भूली हुई अपनी फोटोग्राफरी के ज्ञान को चेताने लगा। साल-भर में उसने श्याम और श्याम की अम्माँ का पूर्णाकार चित्र तैयार कर पाया। जिस कमरे में वह चित्र लगा, वह उसके आत्मचिन्तन का कमरा बन गया। वहाँ और कोई चित्र न रह सकता था।

फोटोग्राफी को ही उसने अपना व्यवसाय और ध्येय बनाया। थोड़े ही समय में वह मार्के का फोटोग्राफ़र हो उठा।

सभी बढ़िया अखबारों में श्याम और उसकी अम्माँ का वह चित्र निकला, और सभी में उसकी सराहना हुई।

खेल

मौन-मुग्ध संध्या स्मित प्रकाश से हँस रही थी। उस समय गंगा के निर्जन बालुकास्थल पर एक बालक और एक बालिका अपने को और सारे विश्व को भूल, गँगातट के बालू और पानी को अपना एक मात्र आत्मीय बना, उनसे खिलवाड़ कर रहे थे।

प्रकृति इन निर्दोष परमात्मा-खण्डों को निस्तब्ध और निर्निमेष निहार रही थी। बालक कहीं से एक लकड़ी लाकर तटके जल को छटा-छट उछाल रहा था। पानी मानो चोट खाकर भी बालक से मित्रता जोड़ने के लिए विह्वल हो उछल रहा था। बालिका अपने एक पैर पर रेत जमाकर और थोप-थोपकर एक भाड़ बना रही थी।

बनाते-बनाते भाड़ से बालिका बोली, "देख, ठीक नहीं बना, तो मैं तुझे फोड़ दूँगी।" फिर बड़े प्यार से थपका-थपकाकँर उसे ठीक करने लगी। सोचती जाती थी—इसके ऊपर मैं एक कुटी बनाऊँगी—वह मेरी कुटी होगी। और मनोहर ?...नहीं, वह कुटी में नहीं रहेगा, बाहर खड़ा-खड़ा भाड़ में पत्ते झोंकेगा। जब

वह हार जायगा, बहुत कहेगा, तब मैं उसे अपनी कुटी के भीतर ले लूँगी।

मनोहर उधर अपने पानी से हिल-मिलकर खेल रहा था। उसे क्या मालूम कि यहाँ अकारण ही उस पर रोष और अनुग्रह किया जा रहा है।

बालिका सोच रही थी—मनोहर कैसा अच्छा है, पर वह दंगई बड़ा है। हमें छेड़ता ही रहता है। अबके दंगा करेगा, तो हम उसे कुटी में साझी नहीं करेंगे। साझी होने को कहेगा, तो उससे शर्त करवा लेंगे, तब साझी करेंगे। बालिका सुरबाला सातवें वर्ष में थी। मनोहर कोई दो साल उससे बड़ा था।

बालिका को अचानक ध्यान आया—भाड़ की छत तो गरम होगी। उस पर मनोहर रहेगा कैसे? मैं तो रह जाऊँगी। पर मनोहर तो जलेगा। फिर सोचा—उससे मैं कह दूँगी भई, छत बहुत तप रही है, तुम जलोगे, तुम मत आओ। पर वह अगर नहीं माना? मेरे पास वह बैठने को आया ही—तो? मैं कहूँगी—भाई, ठहरो, मैं ही बाहर आती हूँ।...पर वह मेरे पास आने की ज़िद करेगा क्या?...ज़रूर करेगा, वह बड़ा हठी है।...पर मैं उसे आने नहीं दूँगी। बेचारा तपेगा—भला कुछ ठीक है! ज्यादा कहेगा, मैं धक्का दे दूँगी, और कहूँगी—अरे, जल जायगा मूर्ख! यह सोचने पर उसे बड़ा मजा-सा आया, पर उसका मुँह सूख गया। उसे मानो सचमुच ही धक्का खाकर मनोहर के गिरने का हास्योत्पादक और करुण दृश्य सत्य की भाँति प्रत्यक्ष हो गया।

बालिका ने दो-एक पक्के हाथ भाड़ पर लगा कर देखा—भाड़ अब बिलकुल बन गया है। माँ जिस सतर्क सावधानी के साथ अपने नवजात शिशुको बिछौने पर लेटाने को छोड़ती है, वैसे ही

सुरबाला ने अपना पैर धीरे-धीरे भाड़ के नीचे से खींच लिया। इस क्रिया में वह सचमुच भाड़ को पुचकारती-सी जाती थी। उसके पैर ही पर तो भाड़ टिका है, पैर का आश्रय हट जाने पर बेचारा कहीं टूट न पड़े! पैर साफ़ निकालने पर भाड़ जब ज्यों का-त्यों टिका रहा, तब बालिका एक बार आह्लाद से नाच उठी।

बालिका एकबारगी ही बेवकूफ मनोहर को इस अलौकिक चातुर्य से परिपूर्ण भाड़ के दर्शन के लिए दौड़कर खींच लाने को उद्यत हो गई। मूर्ख लड़का पानी से उलझ रहा है, यहाँ कैसी ज़बर्दस्त कारगुजारी हुई है—सो नहीं देखता! ऐसा पक्का भाड़ उसने कहीं देखा भी है!

पर सोचा—अभी नहीं; पहले कुटी तो बना लूँ। यह सोचकर बालिका ने रेत की एक चुटकी ली और बड़े धीरे से भाड़ के सिर पर छोड़ दी। फिर दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी। इस प्रकार चार चुटकी रेत धीरे-धीरे छोड़कर सुरबाला ने भाड़ के सिर पर अपनी कुटी तैयार कर ली।

भाड़ तैयार हो गया। पर पड़ोस का भाड़ जब बालिका ने पूरा-पूरा याद किया, तो पता चला एक कमी रह गई। धुआँ कहाँ से निकलेगा? तनिक सोचकर उसने एक सींक टेंड़ी करके उसमें गाड़ दी। बस, ब्रह्माण्ड का सबसे सम्पूर्ण भाड़ और विश्व की सबसे सुन्दर वस्तु तैयार हो गई।

वह उस उजड्ड मनोहर को इस अपूर्व कारीगरी का दर्शन करावेगी, पर अभी ज़रा थोड़ा देख तो और ले। सुरबाला मुँह बाये आँखें स्थिर करके इस भाड़-श्रेष्ठ को देख-देखकर विस्मित और पुलकित होने लगी। परमात्मा कहाँ विराजते हैं, कोई इस बाला से पूछे, तो वह बताये इस भाड़ के जादू में।

मनोहर अपनी 'सुरी-सुरो-सुर्री' की याद कर पानी से नाता तोड़, हाथ की लकड़ी को भरपूर ज़ोर से गंगा की धारा में फेंककर, जब मुड़ा, तब श्रीसुरबाला देवी एकटक अपनी परमात्मलीला के जादू को बूझने और सुलझाने में लगी हुई थीं।

मनोहर ने बाला की दृष्टि का अनुसरण कर देखा—श्रीमतीजी बिलकुल अपने भाड़ में अटकी हुई हैं। उसने ज़ोर से क़हक़हा लगाकर एक लात में भाड़ का काम तमाम कर दिया।

न जाने क्या क़िला फ़तह किया हो, ऐसे गर्व से भरकर निर्दयी मनोहर चिल्लाया—"सुर्री रानी!"

सुर्री रानी मूक खड़ी थीं। उनके मुँह पर जहाँ अभी एक विशुद्ध रस था, वहाँ अब एक शून्य फैल भया। रानी के सामने एक स्वर्ग आ खड़ा हुआ था। वह उन्हीं के हाथ का बनाया हुआ था और वह एक व्यक्ति को अपने साथ लेकर उस स्वर्ग की एक-एक मनोरमता और स्वर्गीयता को दिखलाना चाहती थीं। हा, हन्त! वही व्यक्ति आया और उसने अपनी लात से उसे तोड़-फोड़ डाला! रानी हमारी बड़ी व्यथा से भर गई।

हमारे विद्वान् पाठकों में से कोई होता, तो उन मूर्खों को समझाता—'यह संसार क्षणभँगुर है। इसमें दुःख क्या और सुख क्या। जो जिससे बनाया है वह उसी में लय हो जाता है—इसमें शोक और उद्वेग की क्या बात है? यह संसार जल का बुदबुदा है, फूटकर किसी रोज जल में ही मिल जायगा। फूट जाने में ही बुद-बुदे की सार्थकता है। जो यह नहीं समझते, वे दया के पात्र हैं। री, मूर्खा लड़की, तू समझ। सब ब्रह्माण्ड ब्रह्म का है, और उसी में लीन हो जायगा। इससे तू किसलिए व्यर्थ व्यथा सह रही है? रेत का तेरा भाड़ क्षणिक था, क्षण में लुप्त हो गया, रेत में मिल

गया। इस पर खेद मत कर इससे शिक्षा ले। जिसने लात मारकर उसे तोड़ा है वह तो परमात्मा का केवल साधन-मात्र है। परमात्मा तुझे नवीन शिक्षा देना चाहते हैं। लड़की, तू मूर्ख क्यों बनती है? परमात्मा की इस शिक्षा को समझ और परमात्मा तक पहुँचने का प्रयास कर। आदि-आदि।'

पर बेचारी बालिका का दुर्भाग्य, कोई विज्ञ धीमान् पण्डित तत्त्वोपदेश के लिए उस गंगा-तट पर नहीं पहुँच सके। हमें तो यह भी सन्देह है कि सुरी एकदम इतनी जड़-मूर्खा है कि यदि कोई परोपकार-रत पंडित परमात्म-निर्देश से वहाँ पहुँच कर उपदेश देने भी लगते, तो वह उनकी बात को न सुनती और समझती। पर, अब तो वहाँ निर्बुद्धि शठ मनोहर के सिवा कोई नहीं है, और मनोहर विश्व-तत्त्व की एक भी बात नही जानता। उसका मन न जाने कैसा हो रहा है। कोई जैसे उसे भीतर-ही-भीतर मसोसे डाल रहा है। लेकिन उसने बनकर कहा, "सरो, दुत पगली! रूठती है?"

सुरबाला वैसी ही खड़ी रही।

"सुरी, रूठती क्यों है?"

बाला तनिक न हिली।

"सुरी! सुरी!......ओ, सुरो!"

अब बनना न हो सका। मनोहर की आवाज हठात् कँपी-सी निकली।

सुरबाला अब और मुँह फेरकर खड़ी हो गई। स्वर के इस कम्पन का सामना शायद उससे न हो सका।

"सुरी... ओ सुरिया! मैं मनोहर हूँ...मनोहर!......मुझे मारती नही!"

यह मनोहर ने उसके पीठ पीछे से कहा और ऐसे कहा, जैसे वह यह प्रकट करना चाहता है कि वह रो नहीं रहा है।

"हम नहीं बोलते।" बालिका से बिना बोले रहा न गया। उसका भाड़ शायद स्वर्गविलीन हो गया। उसका स्थान और बाला की सारी दुनिया का स्थान, काँपती हुई मनोहर की आवाज ने ले लिया।

मनोहर ने बड़ा बल लगाकर कहा, "सुरी, मनोहर तेरे पीछे खड़ा है। वह बड़ा दुष्ट है। बोल मत, पर उस पर रेत क्यों नहीं फेंक देती, मार क्यों नहीं देती! उसे एक थप्पड़ लगा—वह अब कभी कसूर नहीं करेगा।"

बाला ने कड़ककर कहा, "चुप रहो जी!"

"चुप रहता हूँ, पर मुझे देखोगी भी नहीं?"

"नहीं देखते।"

"अच्छा मत देखो। मत ही देखो। मैं अब कभी सामने न आऊँगा, मैं इसी लायक हूँ।"

"कह दिया तुमसे, तुम चुप रहो। हम नहीं बोलते।"

बालिका में व्यथा और क्रोध कभी का खत्म हो चुका था। वह तो पिघलकर बह चुका था। यह कुछ और ही भाव था। यह एक उल्लास था जो व्याजकोप का रूप धर रहा था। दूसरे शब्दों में यह स्त्रीत्व था।

मनोहर बोला, "लो सुरी, मैं नहीं बोलता। मैं बैठ जाता हूँ। यहीं बैठा रहूँगा। तुम जब तक न कहोगी, न उठूँगा, न बोलूँगा।"

मनोहर चुप बैठ गया। कुछ क्षण बाद हारकर सुरबाला बोली—"हमारा भाड़ क्यों तोड़ा जी? हमारा भाड़ बनाके दो!"

"लो अभी लो।"

"हम वैसा ही लेंगे।"

"वैसा ही लो, उससे भी अच्छा।"

"उसपै हमारी कुटी थी, उसपै धुएँ का रास्ता था।"

"लो, सब लो। तुम बताती न जाओ, मैं बनाता जाऊँ।"

"हम नहीं बताएँगे। तुमने क्यों तोड़ा? तुमने तोड़ा, तुम्हीं बनाओ।"

"अच्छा, पर तुम इधर देखो तो।"

"हम नहीं देखते, पहले भाड़ बनाके दो।"

मनोहर ने एक भाड़ बना कर तैयार किया। कहा, "लो, भाड़ बन गया।"

"बन गया?"

"हाँ।"

"धुएँ का रास्ता बनाया? कुटी बनाई?"

"सो कैसे बनाऊँ—बताओ तो।"

"पहले बनाओ, तब बताऊँगी।"

भाड़ के सिर पर एक सींक लगाकर और एक-एक पत्ते की ओट लगाकर कहा, "बना दिया।"

तुरन्त मुड़कर सुरबाला ने कहा, "अच्छा, दिखाओ।"

'सींक ठीक नहीं लगा जी', 'पत्ता ऐसे लगेगा' आदि आदि संशोधन कर चुकने पर मनोहर को हुक्म हुआ—

"थोड़ा पानी लाओ, भाड़ के सिरपर डालेंगे।"

मनोहर पानी लाया।

गंगाजल से कर-पात्रों द्वारा वह भाड़ का अभिषेक करना ही चाहता था कि सुर्रो रानी ने एक लात से भाड़ के सिर को चकनाचूर कर दिया!

सुरबाला रानी हँसी से नाच उठीं। मनोहर उत्फुल्लता से कह-कहा लगाने लगा। उस निर्जन प्रान्त में वह निर्मल शिशु-हास्य-रव लहरें लेता हुआ व्याप्त हो गया। सूरज महाराज बालकों जैसे लाल-लाल मुँह से गुलाबी-गुलाबी हँसी हँस रहे थे। गंगा मानो जान-बूझकर किलकारियाँ मार रही थीं। और—और वे लम्बे ऊँचे-ऊँचे दिग्गज पेड़ दार्शनिक पण्डितों की भाँति, सब हास्य की सार-शून्यता पर मानो मन-ही-मन गम्भीर तत्त्वालोचन कर, हँसी में भूले हुए मूर्खों पर थोड़ी दया बख्शाना चाह रहे थे!

किसका रुपया

रमेश अनमना बढ़ता चला आया था, सो अनमना बढ़ता चला गया। उद्देश्य उसमें खो गया था। गिनती की भाँति बढ़ते हुए उसके कदम ही थे जो उसे लिए जा रहे थे। स्कूल में मास्टर ने उसे मारा था। कसूर, कि आज पाँच में दो सवाल उसके ग़लत निकले। क्लास का वह अव्वल लड़का है। हिसाब में होशियार है। मास्टर सब लड़कों को दिखाकर उसकी तारीफ करते हैं। आज उसी के दो सवाल ग़लत आये, तो मास्टर को गुस्सा आ गया। गुस्सा न आता, अगर लड़कों में किसी के भी सवाल सही न आते। मास्टर रमेश को बहुत चाहते थे। पर जब उसी रमेश के दो सवाल ग़लत और दूसरे एक लड़के के पाँचों सवाल सही आये तो मास्टर को बड़ी झुँझलाहट हुई।

तिस पर एक शरारती लड़के ने कहा, "मास्टरजी, तीन तो मेरे भी सही हैं। और आप रमेश को होशियार बताते हैं!"

मास्टर ने कोई जवाब नहीं दिया। गम्भीरता से कहा, "रमेश, यहाँ आओ।"

रमेश डरता-डरता पास आया।

"हाथ फैलाओ।"

रमेश ने हाथ फैलाए। मास्टर ने हाथ के फुटे को कसकर दो-तीन बार उसकी हथेली पर मारा और कहा, "जाओ, उस कोने में मुर्गा बनकर खड़े हो जाओ।"

रमेश क्लास का मानीटर था। मास्टर ने कहा, "सुना नहीं ? जाओ मुर्गा बनो।"

रमेश चलकर अपनी जगह आया और बस्ता खोलकर बैठ गया।

मास्टर ने यह देखा तो गरजकर कहा, "रमेश! सुना नहीं हमने क्या कहा ? जाकर मुर्गा बनो।"

जवाब में रमेश गुम-सुम बैठा रहा।

मास्टर तब अपनी जगह से उठकर आये और कान पकड़कर रमेश को खड़ा करते-करते दो-तीन चपत कनपटी पर रख दिये, फिर धकियाते हुए कहा, "निकल जाओ मेरे क्लास से।"

रमेश क्लास से निकलकर चला। घर पर आया तो माँ ने पूछा, "क्या है ?"

रमेश चुप।

"क्या है ? ले, ये सन्तरे-लुकाट तेरे लिये रखे हैं।"

रमेश गुम-सुम बैठ रहा और कुछ नहीं छुआ।

माँ ने हँसकर कहा, "आज के पैसे का ऐसा क्या खाया था जो भूख नहीं लगी ? और हाँ, क्या आज स्कूल इतनी जल्दी हो गया ?'"

जवाब में रमेश ने सबेरे मिला पैसा अपनी जेब से निकाला और तख्त पर रख दिया, बोला-चाला नहीं।

माँ ने पूछा, "क्यों रे, क्या हुआ है जो ऐसा हो रहा है?"

रमेश नहीं बोला और बीच बात उठकर दूसरे कमरे में खाट पर पैर लटकाकर अँगुली के नहों को मुँह से कुतरता हुआ बैठा रह गया।

माँ फल की तश्तरी लेकर आई। कहा, "बात क्या है? मास्टर ने मारा है?"

प्यार से रखे माँ के हाथों को रमेश ने अपने कन्धे पर से अलग झटक दिया और जाने क्या बुदबुदाता रहा।

माँ ने चिरौरियाँ कीं, प्यार से पूछा, मुँह में छिला लुकाट ज़बरदस्ती दिया। पर रमेश किसी तरह नहीं माना। वह जाने ओठों-ही-ओठों में क्या बुदबुदाता था, त्यौरियाँ उसकी चढ़ी हुई थीं और कुछ साफ न बोलता था। होते-होते माँ को भी गुस्सा आ गया। उसने भी दोनों तरफ चपत रख दिये, और कहा—"बदशऊर से कितना कह रही हूँ, लेकिन जो कुछ बोले भी। हर वक्त झिकाने के सिवाय कुछ काम ही नहीं, हाँ तो। बोलना नहीं है तो इस घर में क्यों आया था? न आके मरे सामने, न क्लेश मचे।"

रमेश इस पर टुक-देर तो वहीं गुम-सुम बैठा रहा। फिर खाट से मुँह उठा कर घर से बाहर होने चला।

माँ ने कहा, "कहाँ जाता है? चल इधर।"

पर रमेश चल कर उधर नही आया, आगे ही बढ़ता गया। इस पर ज़रा देर तो माँ अनिश्चित मान में रही, फिर झपटी आई और सीढ़ी उतर दरवाजे से बाहर झाँकी, तो गली की मोड़ तक रमेश कहीं दिखाई नहीं दिया। माँ इस पर झींकती बड़-बड़ाती भीतर गई और सोचने लगी कि यह उन्हीं के काम हैं कि ज़रा-

से लड़के को इतना सिर चढ़ा दिया है। तारीफ कर-कर के आज यह हाल कर दिया है। माँ को तो कुछ समझता ही नहीं। मेरा क्या, ऐसे ही बिगड़ कर आगे कुल को दाग़ लगायगा तो मैं क्या जानूँ। अभी हाथ में नहीं रखा तो लड़का फिर क्या बस में आने वाला है? उचक्का बनेगा, उचक्का, और नहीं तो।

उधर रमेश बढ़ा चला जा रहा था। चलने में उसके दिशा न थी, न कदमों में अगला-पिछला था। चलते-चलते वह घास के मैदान में आ गया और वहाँ एक जगह बैठ गया। धूप में इतनी तेज़ी न थी। धीरे-धीरे वह ढलती जा रही थी। दूर तक कटी दूब का गलीचा बिछा था। पार पेड़ों से घिरी सड़क बल खाती जा रही थी। एकाध छुटी गाय घास चर रही थी। ऊपर आसमान के शून्य विस्तार में इक्की-दुक्की चील उड़ती दीखती थी। बैठे-बैठे उसे आधा, एक, दो घण्टे हो गये। इस बीच वह कुछ ख़ास नहीं सोच सका था। जहाँ था वहीं रहा था। उसके मन में न मास्टर था, न माँ थी। मन में उसके कुछ नहीं था। बस एक अजीब बेगानगी थी कि वह अकेला है अकेला। सब है, पर कुछ नहीं है। बैठे-बैठे गुस्सा और क्षोभ उसका सब धुल गया था। उसमें अभियोग नहीं था, न शिकायत थी। बस एक रीतापन था कि जैसे कहीं कुछ भी न हो।

देखा कि एक पिल्ला जाने कहाँ से बिछड़ कर उसके आस-पास कुछ ढूँढ रहा है। वह कूँ-कूँ कर रहा है। कभी रुक कर कुछ सोचता है, और कभी भाग छूटता है। रमेश की तबियत हुई कि वह उसके साथ खेले। जब तक पास रहा, वह पिल्ले की तरफ देखता रहा। उसकी अठखेलियाँ उसे प्यारी लग रही थीं। पर जाने वह पिल्ला उससे कितनी दूर था—इतनी दूर कि मानों उसके बीच

समुद्र फैला हो। वह खुद इस पार हो, और पिल्ला दूसरी पार; और वह उसके खेल में भाग न बँटा सकता हो। पिल्ला खेल के लिए हो और वह—बस देखने के लिए।

धीरे-धीरे वह पिल्ला कूँकू करता पास आगया। बिल्कुल पास आगया। रमेश मुग्ध बना उसे देखता रहा। पर मुँह से आवाज देकर या हाथ फैला कर उसे बुला न सका। पिल्ला पास से और पास आता हुआ उसे बड़ा प्यारा लगता था। और वह क्यों एकदम आकर रमेश की देह से सट नहीं जाता। रमेश एकदम निष्क्रिय और निर्विरोध पड़ा था। वह खुश होता कि पिल्ला उसकी छाती पर चढ़कर उसके एकाकीपन को भंग कर डालता। वह चाहता था कि कोई उसे अपने से छुड़ा दे। अपने में होकर वह एकदम अवसन्न और निरर्थक वन रहा था, जैसे वह है ही नहीं। पर पिल्ले ने पास आकर रमेश के मुँह के पास सूँघा, कमीज के छोर को सूँघा, फैले हुए पैरों की अंगुलियों के पास नाक लाकर उसे सूँघा, और फिर लौट कर चल दिया।

रमेश उत्सुक था। वह बाट में था कि वह पिल्ला जरूर उससे उलझेगा। पर इतने पास आकर जब वह लौट चला तो रमेश ने एक भारी साँस छोड़ी। मानों उसके मन में हुआ कि ठीक है, यह भी मुझे नहीं चाहता। कोई उसे नहीं चाहता।

इसी तरह काफी देर वह बैठा रहा। अब साँझ हो चलेगी। दूर पास पगडंडी पर घास में लोग आ-जा रहे हैं। दिन का काम शाम के आराम के किनारे लग रहा है। पेड़ चुप हैं। सड़क पर मोटरें इधर से उधर भागती निकल जाती हैं। होते-होते सहसा वह उठा। उसके मन में कुछ न रह गया था। न इच्छा, न

अनिच्छा, न क्रोध, न खुशी। बस एक अलक्ष्य के सहारे वह अपने घर की ओर चल दिया।

चलते-चलते, अरे, यह क्या ? वह दो डग लौटा, झुक कर देखा। सचमुच रुपया ही था। उसने उसे दबाया। इधर-उधर से देखा। एकदम रुपया ही था ! उसे बड़ी खुशी हुई। लेकिन फिर सहसा अपनी खुशी को मानो ग़लत जान कर वह गम्भीर होगया। रुपया जेब में रख लिया और धीर-गम्भीर बनकर चलने लगा। पर पैसे की क़ीमत का उसे पता था। एक पैसे में मिठाई की आठ गोलियाँ आती हैं। एक रुपये में चौंसठ पैसे होते हैं। चौंसठ में से हर एक पैसे की आठ-आठ गोलियाँ और पेंसिल लाल-नीली और पेंसिल बनाने का चाकू और रबर, फुटा और परकार और मिठाई और खिलौने, हाँ, और नई स्लेट और चाक—चाक की लम्बी-लम्बी बत्तियाँ और काँच की रँग-बिरँगी गोलियाँ और लट्टू और पतंग और गेंद और सीटी···इस तरह बहुत-सी चीजों की तस्वीरें उसके मन में एक-एक कर आने लगीं। वे बड़ी जल्दी-जल्दी आ रही और गुज़र रही थीं। उसके मन की आँखों के आगे से जैसे एक जुलूस ही निकलता जा रहा था। उसको देखकर मन में उछाह आता था। पर अब भी वह ऊपर से गम्भीर और आहिस्ते-आहिस्ते चला जा रहा था।

धीमे-धीमे कदमों में तेजी आ गई। मानों अब उनमें लक्ष्य है। पर उसे नहीं, वह पैरों को चला रहा है। चेहरे पर भी अभाव अब नहीं रह गया है। अपनी कल्पनाओं से अब उसे विरोध नहीं है, वह उनका हमजोली है। उनके रंग में हमरंग है। जुलूस उसी का है और उसमें चलने वाली रंग-विरंगी चीज़ें उसकी तावेदार हैं। उसने जेब से रुपया निकाला, और फिर देखा। वह जल्दी घर

पहुँचना चाहता था। वह माँ को कहेगा—नहीं, नहीं कहेगा। रुपये को जेब में रख लेगा और कुछ नहीं कहेगा, पर नहीं मिठाई माँ को भी दूँगा। सब को दूँगा। सब को, सब को मिठाई दूँगा।

इस तरह चलते-चलते रमेश अपने घर के दरवाज़े पर पहुँचा कि वहीं से उत्साह में चिल्लाया, "अम्माँ! अम्माँ!"

उसकी अम्माँ की कुछ न पूछिए। रमेश के चले जाने पर कुछ देर तो वह रूठी रहीं। फिर यहाँ-वहाँ डोल कर उसकी खोज करने लगीं। पर रमेश यहाँ न मिला, न वहाँ। कायस्थों के घर की शांति से पूछा तो उसे पता नहीं। और अग्रवालों के यहाँ के प्रकाश से पूछा तो उसे ख़बर नहीं। वह सारा मुहल्ला छान आयीं, पर रमेश कहीं न मिला। पहिले तो इस पर उन्हें बड़ा गुस्सा आया। फिर दुश्चिन्ताएँ घेरने लगीं। आख़िर हार-हूर कर घर में अपने काम से लगीं और दफ्तर गये रमेश के बाप को कोस-कोस कर मन भरने लगीं। उन्होंने ही तो ऐसा बिगाड़ कर रख दिया है। अपनी ही चलाता है, और ज़रा कुछ कह दो तो मिजाज़ का ठिकाना नहीं! जाने कहाँ जाकर मर गया है कमबख़्त! भला कुछ ठीक है। मोटर है, साइकिल है, मुसलमान हैं, ईसाई हैं। फिर ये मुड़कटे डंडे वाले कंजरे घूमते फिरते हैं। कहते हैं बच्चों को झोली में डाल कर ले जाते हैं। कहाँ जाकर नस गया, मर मिटा! मेरी आफ़त है। बस सब काम में मैं ही। भगवान् मुझे उठा क्यों नहीं लेता···

दरवाज़े से रमेश की आवाज़ सुनते ही उनका दिल उछल पड़ा। सोचा कि आने दो, उसकी हड्डियाँ तोड़ कर रख दूँगी। दुष्ट ने मुझे कैसा सताया है। पर इस ख्याल के बावजूद उनकी आँखों में पानी उतर आने को हो गया। और भीतर से उमग कर बालक के लिए बड़ा प्यार आने लगा।

रमेश ने कहा, "अम्माँ, अम्माँ ! सुन—अच्छा मैं नहीं बताता।"

अम्माँ ने अपने विरुद्ध होकर डाट कर कहा, "कहाँ गया था रे तू ? यहाँ मैं हैरान हो गयी हूँ। अब आया तू !"

रमेश ने वह कुछ नहीं सुना। बोला, "अम्माँ सच कहता हूँ। दिखाऊँ तुम्हें ?"

अम्माँ ने कहा, "क्या दिखायगा ? ले, आ, भूखा है कुछ खा ले।" कह कर माँ ने रमेश के कन्धे पर प्यार का हाथ रखा और रमेश छिटक कर दूर जा खड़ा हुआ। बोला, "पास से नहीं दूर से देखो। नहीं तो ले लोगी। ये देखो।"

"अरे, रुपया ! कहाँ से लाया है ?"

"रास्ते में पड़ा था।"

"देखूँ !"

रमेश ने पास आकर रुपया माँ के हाथ में दे दिया। माँ ने उसे अच्छी तरह परख कर देखा—एकदम खरा रुपया था।

रमेश ने कहा, "लाओ।"

माँ ने कहा, "तू क्या करेगा। ला, रख दूँ।"

"मेरा है।"

"हाँ, तेरा है। मैं कोई खा जाऊँगी ?"

माँ का ख्याल था कि रमेश रुपया बेकार डाल आयगा। रुपया पाने पर वह बेहद खुश थीं। इस रुपये में अपनी तरफ़ से कुछ और मिलाकर सोचती थीं कि रमेश के लिए कोई बढ़िया इनाम की चीज़ मँगा दूँगी। ऐसे उसके हाथ से रुपया नाहक बरबाद जायगा। पर रमेश के मन में से अभी वह जुलूस मिटा नहीं था। सोचता था कि मैं यह लाऊँगा, वह लाऊँगा। और मिठाई लाकर

सबको खिलाऊँगा। पर यह क्या कि उस की माँ अन्याय से रुपया ही छीन लेना चाहती हैं। उसको यह बहुत बेजा मालूम हुआ। उसने कहा, "रुपया मेरा है। मुझे मिला है।"

माँ ने कहा, "बड़ा मिला है तुमको! कमाये तब मेरा-तेरा करना। चुप रह।"

रमेश का अन्तःकरण यह अन्याय स्वीकार नहीं कर सका। उसने कहा, "रुपया तुम नहीं दोगी?"

माँ ने कहा, "नहीं दूँगी।"

रमेश ने फिर कहा, "नहीं दोगी?"

माँ ने कहा, "बड़ा आया लेने वाला! चुप रह।"

नतीजा यह कि रमेश ने हाथ पकड़ के रुपया लेने की कोशिश की। माँ ने हँस कर मुट्ठी कस ली। कहा, "अलग बैठ।"

पर रमेश अलग न बैठकर मुट्ठी पर जूझता रहा। माँ पहले तो रही टालती फिर बालक की बदशऊरी पर उन्हें गुस्सा आने लगा। और जब ज़ोर लगाते-लगाते अचानक रमेश ने उनकी मुट्ठी पर दाँत से काट खाया तो माँ ने एकाएक ऐसे ज़ोर से कनपटी पर चपत दी कि बालक सिटपिटा गया। हाथ उससे छूट गया और क्षणिक सहमा हुआ वह माँ की ओर देखता रह गया, मानो पूछता हो कि क्या यह सच है? जवाब में उसने माँ की आँखों में चिनगारी देखी। माँ के मन में था कि यह लड़का है कि राक्षस? बदमाश काटता है।

माँ की तरफ़ निमिष भर इस तरह देखकर वह अपनी कनपटी को मलता हुआ गुम-सुम वहाँ से चल दिया, रोया नहीं। कुछ दूर चलने पर माँ ने रुपया उसकी तरफ़ फेंक दिया।

रमेश ने उस तरफ़ देखा भी नहीं और चलता चला गया।

रमेश के पिता साढ़े पाँच बजे दफ़्तर का काम निबटा घर लौटे। साइकिल आज नहीं थी, इससे सड़क छोड़ कर घास के मैदान में रास्ता काट कर चले। रास्ते में क्या देखते हैं कि एक दस-ग्यारह बरस की लड़की, भयभीत इधर-उधर रास्ते पर आँख डालती हुई चली आ रही है। सलवार पहिने है और कमीज़, और ऊपर सर से होती हुई एक ओढ़नी पड़ी है। लड़की मुसलमान है और उसके एक हाथ में छोटी-सी पोटली है। पैर जल्दी-जल्दी रख रही है और इधर-उधर चारों तरफ़ निगाह फेंकती हुई बढ़ रही है। चेहरे पर हवाइयाँ हैं और आँख में आँसू आ रहे हैं। साँस भरी-सी लेती है और कुछ मुँह में बुदबुदाती है। रमेश के बाबू जी ने पूछा, "क्या है बेटी ?"

लड़की पहले तो सहमी-सी देखती रही। फिर रोने लगी। "हाय रे मैं क्या करूँ ? अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी। अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी। हाय रे; मैं क्या करूँ ?"

बाबू जी ने पूछा, "बात क्या है, बेटी !"

लड़की बोली, "एक रुपया और एक इकन्नी थी। कहीं रास्ते में गिर गई !"

"कहाँ गिर गई ? और कब ?"

लड़की ने कहा, "मैं जा रही थी। यहीं कहीं गिर गई। घर पास पहुँच कर देखा कि गिर गई है। यह अभी हाल ही जा रही थी। अजी, अभी हाल। बहुत देर नहीं हुई। हाय रे, अब मैं क्या करूँ ? अम्माँ मुझे मारेंगी। अम्माँ मुझे मारेंगी।"

लड़की डर के मारे बदहवास थी। सत्रह आने की कीमत इस लड़की या उसकी माँ के लिए जरूर सत्रह आने से कहीं ज्यादा

थी। क्योंकि लड़की ग़रीब घर की मालूम होती थी। बाबू जी ने पूछा, "रुपया कहाँ गिरा बेटी ?"

लड़की ने यहाँ-वहाँ और सभी जगह बताया कि गिरा हो सकता है। तब बाबूजी ने कहा कि अब तो रुपया क्या मिलेगा और लड़की को दिलासा देना चाहा। पर लड़की का डर थमता न था। "हाय रे, अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी। हाय री दैया, मैं क्या करूँ। अम्माँ बहुत मारेंगी!"

करुणा के वश रमेश के बाबू जी उस रास्ते पर पीछे की ओर, और सामने की ओर काफी दूर-दूर तक उस लड़की के साथ घूमे। पर रुपया नहीं दीखा, और इकन्नी भी नहीं दीखी। ऊपर से रोशनी भी कम हो चली थी। बाबू को बड़ी दया आ रही थी। लड़की के मन में हौल भरा था। "हाय रे, अम्माँ क्या कहेंगी ? अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी।"

मालूम होता था कि लड़की को माँ का डर तो है ही, उसके नीचे यह भी विश्वास है कि रुपया खोना सच ही इतना बड़ा कसूर है कि उस पर लड़की को मार मिलनी चाहिये। इसी से यह डर ऊपर का नहीं था, बल्कि उसके भीतर तक भरा हुआ था। वह फटी आँखों से इधर-उधर देखती थी और कहीं कुछ सफ़ेद मिलता तो लपक कर उसी तरफ़ झुकती थी। पर हाथ में कभी चीनी का टुकड़ा आ रहता, तो कभी कोई सूखा पत्ता या कभी सिर्फ़ चमकदार पथरी।

रमेश के बाबू जी ने काफ़ी समय लगा कर उसे सहायता दी। आख़िर रुपये और इकन्नी में से कुछ नहीं मिला तो यह कहते हुए वह विदा होने लगे कि, "बेटा, अब अँधेरा हुआ, कल देखना। किस्मत हुई तो शायद मिल भी जाय।"

लड़की सुन कर इस आखिरी हमदर्द को जाते हुए देखकर आँखें फाड़े खड़ी रह गई।

बाबू बेचारे क्या करते ? दिल को मजबूत कर घर की तरफ़ मुँह उठाते हुए चले-चलते गये। ख़्याल आया कि चलूँ लौट कर एक रुपया उसके हाथ में रख दूँ, और कहूँ—'बेटी इकन्नी तो इसके पास पड़ी हुई मिली नहीं, यह अपना रुपया लो।' पर इस ख़्याल को बराबर ख़्याल में ही लिये और दोहराते हुए वह एक-पर-एक डग बढ़ाते घर की तरफ़ चलते चले गए।

घर पहुँचे। बाहर सड़क पर एक तरफ़ देखा कि बुद्ध भगवान् की तरह विरक्त रमेश बाबू बैठे हैं। पिता ने कहा, "अरे रमेश, क्यों क्या है यहाँ क्यों बैठा है।"

रमेश ने सुनकर मुद्रा और पारलौकिक करली और कोई जवाब नहीं दिया।

पिता ने हाथ के झोले को दिखाकर कहा, "अरे चल, देख तेरे लिये क्या लाया हूँ ?"

रमेश ने देखा, न सुना। कोई उससे मत बोलो। किसी का उससे कुछ मतलब नहीं। तुम सब जियो, वह अब मरेगा।

रमेश के पिता मुस्करा कर आगे बढ़ गये। सोच लिया कि इस घर में जो है, रमेश की माँ है।

अन्दर आकर देखा कि रमेश की माँ भी अनमनी हैं। बरामदे में पड़े हुए रुपये को उठाकर कमरे में घूमते हुए कहा, "क्यों, क्या बात है ? आज तो चूल्हा भी ठंडा है।"

मालूम हुआ कि बात यह है कि रमेश की माँ को अभी अपने मैके पहुँचाना होगा। क्योंकि इस घर में जब उसे कुछ चीज ही नहीं समझा जाता है तो उसके रहने और सब का जी जलाने से क्या

फ़ायदा है ? तुम मर्द होकर समझते हो कि दफ्तर के सिवा तुम्हें दूसरा काम ही नहीं है। और इधर यहाँ तुम्हार लाड़ला जो बिगड़ रहा है, उसकी ख़बर नहीं लेते। सिर तो मेरे सब बीतती है। नहीं-नहीं मुझे कल की गाड़ी से बाप के घर भेज दो। काँटा कटेगा और तुम सब खुश होगे। इत्यादि।

रमेश के पिता ने कहा कि वह तो खैर देखा जायगा। पर यह रुपया कैसा बाहर पड़ा था, लो।

मालूम हुआ कि रमेश की माँ को उस रुपये में कोई आग नहीं देनी है, फेंक दो उसे भाड़ में।

अब तो रमेश के पिता का माथा ठनका। पर उन्होंने धीरज से काम लिया। रमेश की माँ को मनाया, उठाया। इस आश्वासन पर वह मन गई और उठ गई कि रमेश को सुधारना होगा। पर सब के बाद रुपये का हाल मालूम किया तो रमेश के पिता सिर पकड़ कर सुन्न रह गये। कुछ देर में सुध हुई तो तेज चाल से उस घास के मैदान में पहुँचे कि ओ परमात्मा वह लड़की मिल जाय। पर वहाँ कहीं लड़की न थी। वह कहते हुए डोलते फिरे कि 'बीबी, यह रहा तुम्हारा रुपया !' पर लड़की वहाँ कहाँ थी कि सुने। रुपया हाथ में लिये हसरत से वह सोचते रह गये कि अब वह उन्हें और कहाँ मिलेगी ?

चोर

घर में आठ बरस का प्रद्युम्न बड़ा ऊधमी है। किसी की नहीं सुनता और जिद पर आजाय, तो पूछिए ही क्या। इधर कुछ दिनों से वह कुछ गुमसुम रहता है। ऊधम-दंगा भी कम हो गया है। जाने क्या बात उस के मन में बैठ गई है। शाम को स्कूल से आता है, तो दौड़ कर खेलने बाहर नहीं चला जाता, इस-उस कमरे में ही दिखाई देता है। मैं परेशान हूँ। कहती हूँ, "क्या हुआ है प्रद्युम्न ?" तो सिर हिलाकर कह देता है, "कुछ भी नहीं।"

"तो खेलने क्यों नहीं गया ?"

"यों ही नहीं गया।"

मैं समझती हूँ कि रूठा है। तब गोद में लेकर प्यार करती हूँ। पर वह बात भी नहीं है। अब सबकी अपनी-अपनी जगह शोभा है। बालक में बुद्धिमानी अच्छी नहीं लगती। उसमें बचपन चाहिए। पर प्रद्युम्न जो आठ वर्ष की उम्र में बुजुर्ग बन रहा है, सो मैं कैसे देखती रह जाऊँ ? डपट कर कहा, "जाता क्यों नहीं खेलने ? साथी बच्चों में मन ही बहलेगा।"

डपटती हूँ, तो वह सचमुच चला जाता है। मैं डरती हूँ कि घर के बाहर इधर-ही-उधर तो वह नहीं भटक रहा है। पर नहीं, वह सीधा साथियों में जाता है और खेल कर काफ़ी देर में लौटता है। एक बात देखती हूँ। शाम को निबट कर हम चार जनीं बैठ कर बात करती हैं, तो वह भी पास बैठा हुआ दिखाई देता है। वह कुछ नहीं बोलता, चुपचाप सुनता रहता है। मुझसे सटकर भी नहीं बैठता और न कभी गोद में लेटने की ही चेष्टा करता है। अपने अलग-अलग गुमसुम बैठा रहता है।

आजकल दिन बड़े खराब हैं। गेहूँ ढाई सेर का भी मयस्सर नहीं है। दूध के दाम घोसी ने परसों से आठ आने सेर कर दिए हैं। शाक-भाजी के बारे में छै आने से कम की बात ही नहीं कीजिए। लौकी और कद्दू दोनों उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं; पर अब उन्हीं के हुक्म से वही बनाती हूँ, क्योंकि वे चार आने में जो आ जाते हैं। शहरियों की मुसीबत, बहन कुछ न पूछो। मकान, किराया है कि दम खुश्क करता है। ४०) दे रही हूँ; पर मैं ही जानती हूँ कि कैसे गुज़र होती है। मेहमान आए, तो बैठाने को जगह नहीं। यह मुई लड़ाई जाने कब बन्द होगी! आपस में हमारी ऐसी ही बातें हुआ करती हैं।

सावित्री ने कहा, "अरे जी, तुमने सुना, कल हमारे पड़ोस में एक का ताला टूट गया।"

गिरजा बोली, "यह न होगा, तो क्या होगा? कुछ नुकसान तो नहीं हुआ?"

सावित्री ने कहा, "यही खैर हुई। चौकीदार की लाठी की ठक-ठक सुनकर, कहते हैं, चोर भाग गया।"

सब्ज़माला बोली, "मैंने तो लोहे के किवाड़ लगाने को कह

दिया है। देखो न, उस रोज़ उनके यहाँ से कपड़े-ज़ेवर सब चला गया। और तो और बर्तन तक ले गए।"

यह समाचार पुराना पड़ गया था; पर आज इस मौक़े पर वह फिर नया हो आया।

दुलारी बोली, "दूर क्यों जाओ, रात की बात मुमानीजी से ही न पूछो कि रह-रहकर कैसा खटका होता रहा और सबेरे देखते हैं, तो साफ़ निशान हैं कि किसी ने कुण्डे पर हाथ आज़माया है।"

मुमानी इस मण्डली में कुछ नई हैं। शायद वजह यह भी हो कि वह अकेली मुसलमान है। लेकिन उनके कुण्डे की बात आई, तो उत्साह से उन्होंने पूरा बखान किया, "नवाब साहब आये न थे। दो का वक्त था। ए० आर० पी० के काम में उन्हें अक्सर देर हो जाती है। अब घर में हम सब जनीं अकेली। मर्द कोई भी नहीं। बहन, कुछ पूछो नहीं। खट-खट सुन रही हैं; पर कुछ करते नहीं बनता। आपस में घुस-फुस कर के रह जाती हैं और सबके धुकधुकी हो रही है। मैंने तो सबेरे ही कह दिया, या तो नौ बजे आ जाओ, नहीं तो मकान तब्दील करो। खुदा जाने, मैं तो नौ बजे किवाड़ बन्द कर लिया करूंगी। मेरी बला से फिर वे कहीं रहें। सोएँ वहीं जाके अपने ए० आर० पी० में। खुदा क़सम बहन, देर तक छत पर से कई क़दमों के चलने की आहट आती रही। यह चोर···।"

जैनमती बोली, "क्यों, बशीरमियाँ घर में नहीं थे क्या?"

मुमानीजान ने कहा, "उनकी भली चलाई। नई शादी हुई है, तो उन्हें क्या होश है? दोनों को अपना कमरा है और बस। बाक़ी उनकी तरफ़ से सब-कुछ क्यों न लुट जाय। अब सच तो

यह है बहन कि चोर का हौल मुझे भी था। इसी से बोल नहीं रही थी, चुप थी।"

रूपवती बोली, "औरों की बात तो नहीं कहती, नीम पर चढ़कर इनके घर तो मैं कहो जब पहुँच जाऊँ।"

सब जनीं इस पर बहुत खुश हुईं और कहने लगीं कि यह बात पते की है। मेरे मन में खुद इस कटे नीम की बात कई बार आई थी। सोचती थी म्यूनिसिपलिटी में लिखकर कटवा दूँ। इस मरे पेड़ को भी यहीं होना था। मैंने जैनमती की तरफ़ देखकर कहा—"जीजी, बताओ क्या करूँ ? पेड़ है तो बड़े बेमौके, कोई चढ़कर आ सकता है। हमारा दिलीप ही रोज़ यहाँ से सड़क पर उतर जाता है। कहती हूँ, मानता ही नहीं।"

जीजी ने कहा, "तो उनसे कहा ?"

मैं बोली, "उनसे जब कहा, तो उन्होंने कौन-सा काम करके रखा। बोले—'नीम के पेड़ से ठण्डी हवा आती है।' मैंने कहा—'चोर जो आ सकता है ?' बोले—'ज़रूर आ सकता है, इससे किवाड़ खुले रखा करो और वक्त-बे-वक्त के लिए दो-चार रोटियाँ भी बचा रखा करो। आए कोई, तो उसे खाने को तो मिल जाय। चोर बेचारा भूखा होता है।' तब से जीजी, मैंने तो कान पकड़ा, जो कुछ कहूँ। सीधी की वह तो उल्टी लगाते हैं। जेठजी से कहना, वह कुछ इन्तज़ाम करदें, तो मुझे कल पड़ जाय। हर घड़ी दिल धुक-धुक करता रहता है। बात यहाँ कर रही हूँ और मन...। क्या बजा होगा ?"

"नौ बज गया।"

मैं घबरा कर बोली, "नौ !" सब जनीं मेरा तमाशा देखने लगीं। मैंने कहा, "मुझे जाने दो। चल प्रद्युम्न, चलें।"

प्रद्युम्न पीछे की एक तरफ बैठा था। औरों के साथ के बच्चे सब सो गए थे। प्रद्युम्न बिल्कुल नहीं सोया था। इस वक्त भी जैसे वह यहाँ से उठना नहीं चाहता था।

सब्ज़माला ने उठती-उठती का हाथ पकड़ कर मुझे बैठाल लिया और कहा, "लाला आ तो गए हैं...।"

मैं और भी घबरा कर बोली, "आ गए हैं?"

सब्ज़माला ने कहा, "वह देख, कमरे में बत्ती जल रही है।" यह कहकर उसने मुझे अंक में भर कर चूम लिया। इस सहेली की मैं यहाँ बात नहीं कर सकती। वह मुझ पर ज़बर्दस्ती करती है; लेकिन इस ज़बर्दस्ती से ही मैं उसकी हूँ। बोली, "लाला थोड़ी देर अकेले रह लेंगे, तो क्या हो जायगा? तुझे छोड़ कर खुद जो महीनों बाहर रहते हैं।"

मैंने कहा, "उन्होंने खाना नहीं खाया, जीजी! मुझे जाने दो।"

"आप ले के खा लेंगे।" कहते हुए उसने मुझे जबरन बैठा लिया।

प्रद्युम्न अपनी जगह बराबर ध्यान लगाए बैठा था। खैर, मेरे बैठ जाने पर चोरी से हटकर चोरों की बात होने लगी। वे निर्दयी होते हैं, चालाक होते हैं, पास में कुछ-न कुछ हथियार रखते हैं। इसी तरह बात आगे बढ़कर डाकू, जेलखाना, कालापानी, और फाँसी तक पहुँची। घड़ी ने दस बजाए, तब जाकर मेरा छुटकारा हुआ। और जनीं भी तब अपने घर गईं। प्रद्युम्न उँगली पकड़े मेरे साथ आ गया।

प्रद्युम्न के बाबूजी लेटे हुए किताब पढ़ रहे थे। कहा, "पता है अब क्या बजा है?"

मैंने टालते हुए कहा, "खाना खा लिया?"

"खा लिया।"

वे नाराज़ थे। हों तो हों। मैं भी प्रद्युम्न को लिटा कर उसके बराबर लेट गई। उनसे बोली नहीं। वे भी किताब पढ़ते रहे। मुझे नींद नहीं आई थी; पर आँख बन्द किए लेटी थी। ऐसे समय प्रद्युम्न मेरी खाट से उठा और अपने बाबूजी के पास जाकर बोला, "बाबूजी !"

चौंककर उन्होंने मुँह फेरा। प्रद्युम्न को पास खड़ा देखकर कहा, "आओ, प्रद्युम्न, मेरे पास सोओगे ?" बच्चा पास बैठ तो गया, लेटा नहीं। "क्यों, बैठे क्यों हो ? सो जाओ।"

प्रद्युम्न ने कहा, "चोर रोशनी में नहीं आता, बाबूजी ?"

उसके बाबूजी ने कहा, "नहीं, रोशनी में कोई चोर नहीं आता। और भाई, चोर भला कोई होता भी है ? सो जाओ।"

लेकिन प्रद्युम्न नहीं सोया। थोड़ी देर बाद उसने पूछा—"अँधेरे में आता है ?"

उसके बाबूजी ने कहा, "क्या बकते हो, सो जाओ।" और उसे जबर्दस्ती लिटा दिया और अपनी किताब खोल कर पढ़ने लगे। थोड़ी देर बाद उन्होंने मुड़ कर देखा होगा कि प्रद्युम्न अब भी आँख फाड़े ऊपर देख रहा है, सोया नहीं है ; क्योंकि तभी मैंने सुना कि उन्होंने कहा, "अरे, अभी सोए नहीं तुम ?" कहकर उन्होंने किताब अलग रख दी और बटन दबा दिया। फिर प्रद्युम्न को छाती के पास खींच कर थपका-थपका कर सुलाने लगे। ऐसे उन्हें थोड़ी देर में नींद आ गई। मैं नही सोई थी। इतने में देखती क्या हूँ कि अँधेरे में टटोल-टटोल कर प्रद्युम्न मेरी खाट पर आ गया।

मैंने उसे अपने में खींचकर फुसफुसाकर कहा, "बेटे, सो

जाओ।" वह मेरे अंक में लगकर सोने की चेष्टा करने लगा। मैं थोड़ी-थोड़ी देर में उसके पपोटे देखती थी कि सो तो गया है न? मैंने कहा, "क्यों प्रद्युम्न, नींद नहीं आती? क्या बात है।"

कुछ देर साँस बाँधकर वह लेटा रहा। अन्त में वह रोक नहीं सका, एकाएक बोला, "भाभी, चोर कैसा होता है?"

मैं सुनकर हैरत में रह गई। मैंने कहा, "अरे, वह सचमुच में कुछ थोड़े ही होता है। वह तो झूठ-मूठ की बात है।"

"तो वह नहीं होता?"

मैंने कहा, "बिल्कुल नहीं होता।" सुनकर वह चुप रह गया। मैंने कहा, "सो जाओ, भैया!"

उसने ज़ोर से कहा, "होता है।"

मैं हँसकर बोली, "तो बताओ, कैसा होता है?"

बोला, "मेरी किताब में राक्षस की तस्वीर है, वैसा होता है। दो सींग, गदहे के-से कान और लम्बी जीभ।"

मैंने कहा, "हटो, कोई चोर-वोर नहीं होता। किताब में तो यों ही तस्वीरें बनी होती हैं। लो, अब सो जाओ।" कहकर मैं उसे थपथपाने लगी और कुछ देर में वह सो गया।

इस बात को आठ-दस रोज़ हो गए। प्रद्युम्न की हालत पहले से ठीक है। मैंने सबसे कह दिया है कि प्रद्युम्न के सामने चोर की बात बिल्कुल मुँह से न निकालें। सब इस बात का ध्यान रखती हैं। और मालूम होता है कि चोर प्रद्युम्न के सिर से भी उतरकर भाग-भूग गया है।

दिलीप हमारा भतीजा है और साथ ही रहता है। वह एफ० ए० में पढ़ता है। कालेज दो मील होगा, साइकिल से आता-जाता है। प्रद्युम्न अपने कई साथियों के साथ स्कूल से लौटा था। आते

ही बस्ता फेंक उन के साथ भाग जाना चाहता था। मैंने जैसे-तैसे उसे रोका और फल-मिठाई उसे खिलाने लगी। कहा, "सबेरे से गया, तुझे भूख नहीं लगी, प्रद्युम्न ?"

खाने तो वह लगा; पर मन उसका दोस्तों में था। इतने में आया दिलीप। बोला, "चाची, एक चोर पकड़ा गया है, चोर। बाहर गली में सिपाही उसे ले जा रहे थे। सच्ची, चाची !"

मैंने अनायास कहा, "कहाँ रे ?"

दिलीप कापी-किताब फेंकते हुए बोला, "यह बाहर ही तो गली के बाहर।"

"तो चलो, होगा—ले, अरे खाता क्यों नहीं ?"

लेकिन प्रद्युम्न का मुँह रुक गया था। बरफी का पहला टुकड़ा भी नीचे नहीं उतरा था। वह भूला-सा सामने देखता रह गया था।

"ले खाता क्यों नहीं ? खाकर कहीं जाना।"

परन्तु प्रद्युम्न कुछ देर उसी तरह खोया-सा रहा; फिर एक दम उठ कर वहाँ से भाग छूटा। मैंने तब दिलीप से कहा, "जा भय्या, देख तो, वह कहाँ जा रहा है ?"

दिलीप स्वयं ही जाना चाहता था। इसी से वह भी लपककर भाग गया। आने पर देखा कि दिलीप जितना उल्लसित है, प्रद्युम्न उतना ही चिन्तित दीखता है। मैं दिलीप से पूछने-ताछने लगी और वह मुझे अपनी सुनी-सुनाई सब बताने लगा। प्रद्युम्न तब बराबर पास खड़ा था। सहसा बीच में वह बोला, "चोर आदमी होता है, माँ ? चोर नहीं होता ?"

मैंने कहा, "हाँ बेटा, आदमी ही होता है।"

"राक्षस नहीं होता ?"

मैंने कहा, "नहीं भैय्या, राक्षस नहीं होता।"

वह मेरी तरफ ताकता हुआ देखता रह गया। बोला, "राक्षस नहीं होता—बिल्कुल राक्षस नहीं होता ? तो फिर क्या बात है, अम्मा ? अब किवाड़ बन्द मत किया करो।"

मैंने तो सुनके माथा ठोक लिया, बहन ! सोचा कि इस ज़रा से में भी तो बाप के लच्छन आ गए !

अपना-अपना भाग्य

: १ :

बहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकने पर हम सड़क के किनारे की बेंच पर बैठ गये।

नैनीताल की संध्या धीरे-धीरे उतर रही थी। रुई के रेशे-से, भाप से बादल हमारे सिरों को छू-छू कर बेरोक घूम रहे थे। हलके प्रकाश और अँधियारी से रँग कर कभी वे नीले दीखते, कभी सफ़ेद और फिर ज़रा देर में अरुण पड़ जाते। वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलो वाला मैदान फैला था। सामने अँग्रेज़ों का एक प्रमोद-गृह था जहाँ सुहावना-रसीला बाजा बज रहा था और पार्श्व में था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

ताल में किश्तियाँ अपने सफ़ेद पाल उड़ाती हुई एक-दो अँग्रेज़ यात्रियों को लेकर, इधर से उधर खेल रही थीं और कहीं कुछ अँग्रेज़ एक-एक देवी सामने प्रतिस्थापित कर, अपनी सुई-सी शक्ल की

डोंगियों को मानों शर्त बाँधकर सरपट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारे पर कुछ साहब अपनी बन्सी पानी में डाले सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ मछली-चिन्तन कर रहे थे।

पीछे पोलो-लॉन में बच्चे किलकारियाँ मारते हुए हॉकी खेल रहे थे। शोर, मार-पीट गाली-गलौज भी जैसे खेल का ही अंश था। इस तमाम खेल को उतने क्षणों का उद्देश्य बना वे बालक अपना सारा मन, सारी देह, समग्र बल और समूची विद्या लगाकर मानों खत्म कर देना चाहते थे। उन्हें आगे की चिन्ता न थी, बीते का ख्याल न था। वे शुद्ध तत्काल के प्राणी थे। वे शब्द की सम्पूर्ण सचाई के साथ जीवित थे।

सड़क पर से नर-नारियों का अविरत प्रवाह आ रहा था और जा रहा था। उसका न ओर था न छोर। यह प्रवाह कहाँ जा रहा था और कहाँ से आ रहा था, कौन बता सकता है? सब उम्र के सब तरह के लोग उसमें थे। मानों मनुष्यता के नमूनों का बाज़ार, सज कर, सामने से इठलाता निकला चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्व में तने अँग्रेज़ उसमें थे, और चिथड़ों से सजे, घोड़ों की बाग थामे वे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को कुचल कर शून्य बना लिया है, और जो बड़ी तत्परता से दुम हिलाना सीख गये हैं।

भागते, खेलते, हँसते, शरारत करते, लाल-लाल अँग्रेज़ बच्चे थे और पीली-पीली आँखें फाड़े पिता की उँगली पकड़ कर चलते हुए अपने हिन्दुस्तानी नौनिहाल भी थे।

अँग्रेज पिता थे जो अपने बच्चों के साथ भाग रहे थे, हँस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुजुर्गी

को अपने चारों तरफ लपेटे धन-सम्पन्नता के लक्षणों का प्रदर्शन करते हुए चल रहे थे।

अँग्रेज़ रमणियाँ थीं, जो धीरे नहीं चलती थीं, तेज़ चलती थीं। उन्हें न चलने में थकावट आती थी, न हँसने में लाज आती थी। कसरत के नाम पर भी बैठ सकती थीं, और घोड़े के साथ-ही-साथ, ज़रा जो होते ही, किसी हिन्दुस्तानी पर भी कोड़े फटकार सकती थीं। वह दो-दो, तीन-तीन, चार-चार की टोलियों में निश्शंक, निरापद, इस प्रवाह में मानों अपने स्थान को जानती हुई, सड़क पर से चली जा रही थीं। उधर हमारी भारत की कुल-लक्ष्मियाँ, सड़क के बिल्कुल किनारे-किनारे, दामन बचातीं और सम्हालती हुई, साड़ी की कई तहों में सिमट-सिमट कर, लोक-लाज, स्त्रीत्व और भारतीय गरिमा के आदर्श को अपने परिवेष्टनों में छिपाकर, सहमी-सहमी धरती में आँख गाड़े, कदम-कदम बढ़ रही थीं।

इसके साथ ही भारतीयता का एक और नमूना था। अपने कालेपन को खुरच-खुरच कर बहा देने की इच्छा करने वाले अँग्रेजीदाँ पुरुषोत्तम भी थे, जो नेटिव को देखकर मुँह फेर लेते थे और अँग्रेज़ को देखकर आँखें बिछा देते थे, और दुम हिलाने लगते थे। वैसे वह अकड़ कर चलते थे,—मानों भारत-भूमि को इसी अकड़ के साथ कुचल-कुचल कर चलने का उन्हें अधिकार मिला है।

: २ :

घण्टे के घण्टे सरक गये, अँधकार गाढ़ा हो गया। बादल सफ़ेद होकर जम गये। मनुष्यों का वह ताँता एक-एक कर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़क पर छतरी लगाकर निकल

रहा था। हम कहीं-के-वहीं बैठे थे। सर्दी-सी मालूम हुई। हमारे ओवरकोट भीग गये थे।

पीछे फिरकर देखा। वह लॉन बर्फ़ की चादर की तरह बिल्कुल स्तब्ध और सुन्न पड़ा था।

सब सन्नाटा था। तल्ली ताल की बिजली की रोशनियाँ दीप-मालिका-सी जगमगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले-हुए प्रकृति के जल-दर्पण पर प्रतिबिम्बित हो रही थीं। और दर्पण का काँपता हुआ, लहरें लेता-हुआ वह तल उन प्रतिबिम्बों को सौ-गुना हज़ार-गुना करके उनके प्रकाश को मानों एकत्र और पुंजीभूत करके व्यस्त कर रहा था। पहाड़ों के सिर पर की रोशनियाँ तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्दे ने आकर इन सब को ढँक दिया। रोशनियाँ मानों मर गईं। जगमगाहट लुप्त हो गई। वह काले-काले भूत-से पहाड़ भी इस सफ़ेद पर्दे के पीछे छिप गये। पास की वस्तु भी न दीखने लगी। मानों वह घनीभूत प्रलय थी। सब कुछ इस घनी, गहरी सफ़ेदी में दब गया। जैसे एक शुभ्र महासागर ने फैलकर संसृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया। ऊपर नीचे, चारों तरफ़, वह निर्भेद सफ़ेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हमने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था।

मार्ग अब बिल्कुल निर्जन, चुप था। वह प्रवाह न जाने किन घोसलों में जा छिपा था।

उस बृहदाकार शुभ्र शून्य में, कहीं से ग्यारह टन् टन् हो उठा। जैसे कहीं दूर कब्र में से आवाज़ आ रही हो!

हम अपने-अपने होटलों के लिए चल दिये।

: ३ :

रास्ते में दो मित्रों का होटल मिला। दोनों वकील मित्र छुट्टी लेकर चले गये। हम दोनों आगे बढ़े। हमारा होटल आगे था।

ताल के किनारे-किनारे हम चले जा रहे थे। हमारे ओवरकोट तर हो गये थे। बारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहाँ तो ऊपर-नीचे हवा के कण-कण में बारिश थी। सर्दी इतनी थी कि सोचा, कोट पर एक कम्बल और होता तो अच्छा होता।

रास्ते में ताल के बिल्कुल किनारे एक बेंच पड़ी थी। मैं जी में बेचैन हो रहा था। झटपट होटल पहुँचकर, इन भीगे कपड़ों से छुट्टी पा, गरम बिस्तर में छिपकर सो रहना चाहता था। पर साथ के मित्र की सनक कब उठेगी और कब थमेगी—इसका क्या ठिकाना है! और वह कैसी क्या होगी—इसका भी कुछ अन्दाज़ है! उन्होंने कहा, "आओ, जरा यहाँ बैठें।"

हम उस चूते कुहरे में रात के ठीक एक बजे, तालाब के किनारे की उस भीगी, बर्फ़ीली ठण्डी हो रही लोहे की बेंचपर बैठ गये।

५–१०–१५ मिनट हो गये। मित्र के उठने का इरादा न मालूम हुआ। मैंने खिझला कर कहा—

"चलिए भी.. ."

हाथ पकड़ कर ज़रा बैठने के लिए जब इस ज़ोर से बैठा लिया गया, तो और चारा न रहा—लाचार बैठ रहना पड़ा। सनक से छुटकारा आसान न था, और यह ज़रा बैठना भी ज़रा न था।

चुप-चुप बैठे तंग हो रहा था कि मित्र अचानक बोले—

"देखो, वह क्या है ?"

मैंने देखा—कुहरे की सफ़ेदी में कुछ ही हाथ दूर से एक काली-सी मूरत हमारी तरफ़ बढ़ी आ रही थी। मैंने कहा, "होगा कोई।"

तीन गज़ दूरी से दीख पड़ा, एक लड़का सिर के बड़े-बड़े बालों को खुजलाता हुआ चला आ रहा है। नंगे पैर है, नंगे सिर। एक मैली-सी कमीज़ लटकाये है।

पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे थे, और वह न जाने कहाँ जा रहा है—कहाँ जाना चाहता है! उसके क़दमों में जैसे कोई न अगला है, न पिछला है, न दायाँ है, न बायाँ है।

पास की चुंगी की लालटैन के छोटे से प्रकाश-वृत्त में देखा—कोई दस बरस का होगा। गोरे रँग का है, पर मैल से काला पड़ गया है। आँखें अच्छी बड़ी पर सूनी हैं। माथा जैसे अभी से झुर्रियाँ खा गया है।

वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था। नीचे की धरती, न ऊपर चारों तरफ़ फैला हुआ कुहरा, न सामने का तालाब और न बाक़ी दुनिया। वह बस अपने विकट वर्तमान को देख रहा था।

मित्र ने आवाज़ दी—"ए!"

उसने जैसे जागकर देखा और पास आ गया।

"तू कहाँ जा रहा है रे?"

उसने अपनी सूनी आँखें फाड़ दीं।

"दुनिया सो गई, तू ही क्यों घूम रहा है?"

बालक मौन-मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खड़ा रहा।

"कहाँ सोयेगा?"

"यहीं कहीं।"

"कल कहाँ सोया था ?"

"दुकान पर।"

"आज वहाँ क्यों नहीं ?"

"नौकरी से हटा दिया।"

"क्या नौकरी थी ?"

"सब काम। एक रुपया और जूठा खाना।"

"फिर नौकरी करेगा ?"

"हाँ..."

"बाहर चलेगा ?"

"हाँ..."

"आज क्या खाना खाया ?"

"कुछ नहीं।"

"अब खाना मिलेगा ?"

"नहीं मिलेगा।"

"यों ही सो जायगा ?"

"हाँ..."

"कहाँ ?"

"यहीं कहीं।"

"इन्हीं कपड़ों से ?"

बालक फिर आँखों से बोलकर मूक खड़ा रहा। आँखें मानो बोलती थीं—

"यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न !"

"माँ-बाप हैं ?"

"हैं।"

"कहाँ ?"

"१५ कोस दूर गाँव में।"

"तू भाग आया ?"

"हाँ।"

"क्यों ?"

"मेरे कई छोटे भाई-बहन हैं,—सो भाग आया। वहाँ काम नहीं, रोटी नहीं। बाप भूखा रहता था और मारता था। माँ भूखी रहती थी और रोती थी। सो भाग आया। एक साथी और था। उसी गाँव का था,—मुझसे बड़ा। दोनों साथ यहाँ आये। वह अब नहीं है।"

"कहाँ गया ?"

"मर गया।"

इस जरा-सी उम्र में ही इसकी मौत से पहचान हो गई ! मुझे अचरज हुआ, दर्द हुआ, पूछा, "मर गया ?"

"हाँ, साहब ने मारा, मर गया।"

"अच्छा हमारे साथ चल।"

वह साथ चल दिया। लौटकर हम वकील दोस्तों के होटल में पहुँचे।

"वकील साहब !"

वकील लोग होटल के ऊपर के कमरे से उतरकर आये। काश्मीरी दोशाला लपेटे थे, मोजे-चढ़े पैरों में चप्पल थी। स्वर में हल्की-सी झुँझलाहट थी, कुछ लापर्वाही थी।

"ओ-हो, फिर आप !—कहिए ?"

"आपको नौकर की जरूरत थी न ?—देखिए, यह लड़का है।"

"कहाँ से लाये ?—इसे आप जानते हैं ?"

"जानता हूँ—यह बेईमान नहीं हो सकता।"

"अजी, ये पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं। बच्चे-बच्चे में गुन छिपे रहते हैं। आप भी क्या अजीब हैं—उठा लाये कहीं से-'लो जी, यह नौकर लो'।"

"मानिए तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा।"

"आप भी...जी, बस खूब हैं। ऐरे-गैरे को नौकर बना लिया जाय और अगले दिन वह न जाने क्या-क्या लेकर चम्पत हो जाय।"

"आप मानते ही नहीं, मैं क्या करूँ!"

"मानें क्या खाक?—आप भी—जी अच्छा मजाक करते हैं।—अच्छा अब हम सोने जाते हैं।"

और वह चार रुपये रोज के किराये वाले कमरे में सजी मसहरी पर सोने झटपट चले गये।

: ४ :

वकील साहब के चले जाने पर होटल के बाहर आकर मित्र ने अपनी जेब में हाथ डालकर कुछ टटोला। पर झट कुछ निराश भाव से हाथ बाहर कर वे मेरी ओर देखने लगे।

"क्या है?"—मैंने पूछा।

"इसे खाने के लिए कुछ देना चाहता था" अँग्रेजी में मित्र ने कहा, "मगर दस-दस के नोट हैं।"

"नोट ही शायद मेरे पास हैं;—देखूँ?"

सचमुच मेरी जेब में भी नोट ही थे। हम फिर अँग्रेजी बोलने लगे। लड़के के दाँत बीच-बीच में कटकटा उठाते थे।—कड़ाके की सर्दी थी।

मित्र ने पूछा, "तब?"

मैंने कहा, "दस का नोट ही दे दो।" सकपकाकर मित्र मेरा मुँह देखने लगे, "अरे यार, बजट बिगड़ जायगा। हृदय में जितनी दया है, पास में उतने पैसे तो नहीं।"

"तो जाने दो; यह दया ही इस जमाने में बहुत है।"—मैंने कहा। मित्र चुप रहे। जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़के से बोले—

"अब आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना। वह 'होटल-डि-पव' जानता है ? वहीं कल १० बजे मिलेगा ?"

"हाँ...कुछ काम देंगे हजूर ?"

"हाँ-हाँ, ढूँढ़ दूँगा।"

"तो जाऊँ ?"—लड़के ने निराश आशा से पूछा।

"हाँ"—ठंडी साँस खींचकर फिर मित्र ने पूछा, "कहाँ सोयेगा ?"

"यहीं-कहीं, बेंच पर पेड़ के नीचे—किसी दुकान की भट्टी में।"

बालक कुछ ठहरा। मैं असजमन्स में रहा। तब वह प्रेतगति से एक ओर बढ़ा और कुहरे में मिल गया। हम भी होटल की ओर बढ़े। हवा तीखी थी—हमारे कोटों को पारकर बदन में तीर-सी लगती थी।

सिकुड़ते-हुए मित्र ने कहा—"भयानक शीत है। उसके पास कम—बहुत कम कपड़े...!"

"यह संसार है यार !" मैंने स्वार्थ की फिलासफी सुनाई "चलो, पहले बिस्तर में गर्म हो लो, फिर किसी और की चिन्ता करना।"

उदास होकर मित्र ने कहा, "स्वार्थ !—जो कहो, लाचारी कहो, निठुराई कहो या बेहयाई !"

* * * *

दूसरे दिन नैनीताल-स्वर्ग के किसी काले गुलाम पशु के दुलार

का वह बेटा—वह बालक, निश्चित समय पर हमारे 'होटल-डि-पव' में नहीं आया। हम अपनी नैनीताल-सैर खुशी-खुशी खतम कर चलने को हुए। उस लड़के की आस लगाते बैठ रहने की जरूरत हमने न समझी।

मोटर में सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला—पिछली रात, एक पहाड़ी बालक, सड़क के किनारे, पेड़ के नीचे ठिठुरकर मर गया।

मरने के लिए उसे वही जगह, वही दस बरस की उम्र और वही काले चिथड़ों की कमीज़ मिली! आदमियों की दुनिया ने बस यही उपहार उसके पास छोड़ा था।

पर बताने वालों ने बताया कि गरीब के मुँह पर, छाती, मुट्ठियों और पैरों पर बरफ की हलकी-सी चादर चिपक गई थी। मानो दुनिया की बेहयाई ढकने के लिए प्रकृति ने शव के लिए सफेद और ठण्डे कफ़न का प्रबन्ध कर दिया था?

सब सुना और सोचा—अपना-अपना भाग्य!

तमाशा

: १ :

साईकिल द्वार के पास वाली बैठक में ही रख दी, और भीतर आँगन को पार करते-करते चिल्लाए, "ओ रे, काठ के उल्लू !"

सुनयना चौके के काम में लगी थी। वहाँ से भागी।

दहलीज पर पैर रखते ही इन्होंने सामने पाया सुनयना को। फिर चिल्लाने को हुए, "ओ रे..."

तभी निगाह पड़ गई सुनयना की उँगली, जो ओठों के आगे होकर हुक्म दे रही थी—चुप।

यह, अधबीच में ही चुप।

उँगली वहाँ ओठों की चौकीदारी पर, छण के कितने भाग तक रही? वह वहाँ आ गई और हट गई, और पल का बहुत भाग शेष रहा। उसके हटते ही ओठों के द्वार को खोलकर बन्द बात झट बाहर निकल आई, "हें-हें। चिल्लाओ मत। सो रहा है। जग जायगा।"

कैसे कहें, इतने में पल पूरा खर्च हो चुका था।

यह पहले से भी जोर से बोले. "ओ हो, पदुमन साहब सो रहे हैं।"

"बोलो नहीं, मैंने कहा"—यह पत्नी ने भी जोर से कहा।

"यह सोने का वक्त है ?" कह कर एक तरफ हलके-हलके झूलते हुए पालने को देखने लगे, उस प्रद्युम्न नामक काठ के उल्लू को कहना चाहते हैं, "सुना ? यह सोने का वक्त है ?"

सुनयना ने देखा, वह साग छोंकते-छोंकते चली आई है। और उसका यह पति है विलक्षण जीव ! वह चुपचाप पालने के पास गई, हल्के-पुल्के दो-एक झोंटे दिये। बात की ओर जरा देखा—और रसोई में चली गई।

पत्नी के चले जाने पर विनोद-भूषण बड़े दबे-पाँव पालने के पहुँच गये। प्रद्युम्न बेखबर सो रहा था। जैसे हँसते-हँसते सो गया है, मुँह उसका अब भी हँस रहा था। मानों नींद की परी की गोद में वह बड़ा मगन है।

मुँह खुला था, बाकी एक तौलिये से ढँका था। और मुँह ऐसा था, गोल-गोल कि बस। और दो लाल-लाल लकीर-सी कलियाँ, उस नन्नीनुन्नी नाक नामक वस्तु के नीचे, हिल-मिलकर मानों खेल रही थीं। वे ओठ चिपटकर बन्द नहीं थे, जरा से खुले थे, जैसे जो ईषत्-स्मित हास्य भीतर से फूटकर बाहर आकर व्याप्त हो गया है, वह निकलते वक्त इन्हें खुला ही छोड़ गया है, बन्द करना भूल गया।

विनोद-भूषण ने धीरे-धीरे अपना हाथ बन्द आँखों की रक्षा करती-हुई पलकों पर फेरा। जैसे उन्हें अपने काम पर आशीर्वाद दे रहे हैं। 'इस नन्हीं-सी जान को ये दो झरोखे मिले हैं, जहाँ से हम उसमें झाँक सकते हैं और जहाँ से यह हमें देखकर पहचान

सकती है। हमारी आत्मा यहीं से एक दूसरे में मिलती है। और देखो भाई, तुम्हारे आश्रय के नीचे इन्हें रक्खा गया है। ख्याल रखना, यह हमारा नन्हा सा फूल है, इसे खूब अच्छी-अच्छी तरह सुलाना'—धीमे-धीमे फेरकर मानो अपने अंगुली-स्पर्श द्वारा यह सन्देश और आशीर्वाद उन्होंने पलकों को दिया।

हाथ उठाने पर फिर अपने उस सोये फूल को देखते रहे। फिर पैरों पर से तौलिया हटाया। चिकने-चिकने, गुलाबी, वे मक्खन के पाँव तौलिये से उझँककर सामने दिखाई दिये। मानों कह रहे हैं—"हम मुँह से कम हैं? आँख से कम हैं?"

उन्होंने देखा—ये कभी, किसी से, किसी भी हालत में कम नहीं हैं।

देखते-देखते पैरों की उँगलियाँ हिली-डुलीं, और सिर झुका-फिराकर मानों कहना चाहने लगीं—"हम भी खेलती हैं, हमें भी प्यार करो।"

इन्होंने बारी-बारी से झुककर उन दसों उँगलियों का चुम्बन लिया। फिर उन्हें उसी तरह तौलिये से ढँक दिया।

तब पालने को दो-एक धीमे झोटे दे, वह कचहरी के कपड़े उतारने और हाथ-मुँह धोकर स्वस्थ होने चले गये।

: २ :

बहुत बरसों में यह बालक उन्हें मिला है, इस लिए बड़ा प्यारा है। ब्याह के साल दो-एक बाद ही पति-पत्नी को एक बच्चे की चाह हो आ आई। इस चाह ने बाँध उठा दिया, सोते फूट निकले, और समग्र शरीर और हृदय से रिस-रिस कर वात्सल्य बहने लगा। वह निर्झरिणी बनकर कहीं बरस पड़ना चाहता है।

लेकिन झरझर करके जिस पर बरसे, वह है नहीं । इसलिए, पुत्र की कामना और पुत्र के अभाव ने मिल कर जो अन्तर में एक रिक्त पैदा कर दिया है, वह वात्सल्य चारों तरफ से बह-बह कर वहाँ आकर जमा होने लगा। बरस-पर बरस बीत गये। स्नेह संचित होता-होता हृदय में लबालब भर गया है। इतना भर गया है कि कभी-कभी किनारों को तोड़ कर आँखों की राह थोड़ा झर पड़ना उसके लिए आवश्यक हो जाता है।

इधर देवाधिदेव महादेव इन स्नेहामृतों की बूँदों से अपनी एक छोटी-सी शीशी पूरी भर लेने की प्रतीक्षा में थे। पार्वतीजी के सिर-दर्द के लिए उसकी उन्हें ज़रूरत है। आखिर बूँद बूँद होते, दस बरस में वह शीशी पूरी भर गई। तब महादेवजी ने चैन की साँस ली।

तभी ग्यारहवें बरस इनको मिल गया प्रद्युम्न । वह संचित स्नेह का स्रोत तब अजस्र इस पर बरसने लगा।

लाड़-प्यार में वह अब पाँचवाँ महीना पार कर गया है। छठे को भी तेज़ी से पार करता जा रहा है। बड़ा सुभागवान् है।

बड़ा नामवाला है। अभी से कई इसके नाम हैं। साहित्य का श्राद्ध करके बालक के वकील पिता ने प्रद्युम्न को संस्कृत बनाया है, पर्दुमन। कोई शुद्धि-प्रेमी जब कहता है—प्रद्युम्न, तब इन वकील को उस पर बड़ा तरस होता है । देखो, नाम भी ठीक नहीं बोला जाता, पर्दुमन। और तभी संशोधन कर देते हैं, कहते हैं—"क्या प्रद्युम्न, प्रद्युम्न ? ठीक बोलो, पर्दुमन।" और यदि यह पर्दुमन-नाम-धारी जीव ऐसे उत्कट समय इनके पास ही होता है, तो दोनों हाथों में उसे अपने सिरसे ऊपर उठा कर कहते हैं—"क्यों बे, काठ के उल्लू, है न तू पर्दुमन ?" जब वह काठ का उल्लू उस साहित्य-

हत्या से सहमत होता है, तब तो दाँत-विहीन मुँह को फैला कर, हाथ-टाँग और आँख नचा कर हँसता है और बोलता है—"हउ।" इस पर वकील साहब कहते हैं—"है पूरा काठ का उल्लू।"

ऐसा भी होता है कि वह छोटे साहब कभी शुद्धता के पक्ष में हो जाते हैं और पिता के धृष्ट प्रश्न पर मुँह बिगाड़ लेते हैं और रोते हैं—"हु-ऊँ, हु-ऊँ।" उस समय वकील साहब तुरन्त परास्त हो जाते हैं और अपने इस छोटे से विरोधी प्रतिपक्षी को कभी गोद में लेकर और कभी कन्धे पर बिठा कर डोलने लगते हैं और कहते हैं—"अच्छा, प्रद्युम्न-प्रद्युम्न।" लेकिन शिक्षित वकील की साहित्यिक धृष्टता पर छोटे बाबू को होता है क्षोभ बहुत, जल्दी शान्त नहीं होता। तब बुलाहट होती है—"लो जी, इसे लो अपने पदुमन को। यह तो रूठे जाते हैं।"

इस पर, जहाँ भी होती है वहीं से आकर, सुनयना उसे पुचकारती-पुचकारती गोदी में ले लेती है, कहती है—"हमारा लाला बेटा चाँद है। हमारी बेटी चंदो रानी है। रानी है, हाँ तो··· पदुमन नहीं है।" और यह पुरुषत्वाहंकारशून्य प्रद्युम्न रानी बन कर झट मन जाते हैं और खिल जाते हैं।

प्रद्युम्न के दादी भी है। और एक बाबा भी हैं। दादी की तो जैसे जान ही इसमें अटकी है। और बाबा की कुछ पूँछिए मत—दिन-रात, दिन-रात अपने प्रद्युम्न में ही लगे रहते हैं। उन्होंने बड़ी बड़ी ईजादें की हैं। रोना शुरू करने वाला हो, तो ज़ोर से बिहाग गाना शुरू कर दो, गाना सुनने लगेगा, रोना भूल जायगा। ज़ोर की दो-तीन भारतमाता-की-जय भी रोदन-रोग में काफी कारगर ओषधि है। गठड़ी में गुड़ी-मुड़ी करके बिठा दो, और गठड़ी को हाथ से झुलाओ, बड़ा खुश होगा और धीरे-धीरे सो जायगा।

ये सब आज़मूदा नुस्खे बाबा ने तैयार किये हैं, और रोज़ नये-नये करते रहते हैं। एक तो अमोघ और अचूक है । कैसी भी हालत हो, एक कपड़े के टुकड़े पर उसे लिटाओ, एक ओर के छोर एक पकड़े दूसरी के दूसरा, और झुलाओ, फौरन हँसेगा ।

इसको लेकर बाल-मनोविज्ञान में बड़े-बड़े मौलिक अनुसन्धान भी बाबा ने किये हैं।

बाबा ने तय किया है, इसे गुरुकुल में पढ़ायँगे। उसके माथे में बड़ी विद्या लिखी है। धन तो ज्यादे होगा नहीं, रेख ही ऐसी है,—और हमें धन चाहिए ही क्यों? पर विद्वान् तो ऐसा होगा कि एक। और उस भावी विद्वान् के गाल पर एक चपत जड़कर कहते—क्यों बे, होगा न विद्वान्! चपत की चोट से भाग्य में विराजी विद्या डरके मारे भाग जाती होगी,—सचपत प्रश्न के उत्तर में वह रोने लगता। तब बड़े प्यार से उसे कन्धे पर लेकर बाबा कहते—"नहीं, भाई नहीं। हमारा बेटा विद्वान् काहे को बनेगा? विद्वान् बने कोई और। हमारा बेटा तो घसखुदा बनेगा।" इस आश्वासन पर शान्त हो जाता, और सम्मिलित मंडली में से वकील हँस पड़ते, सुनयना हल्की असहमति प्रकट करती, और दादी तीव्र प्रतिवाद करती—"ऐसा मत कहो। राजा बनेगा—राजा।"

इस तरह बहुतों की आशाओं की टेक, यह प्रद्युम्न, बहुतों के एकान्त आशीर्वाद और स्नेह की छाँह के तले पल रहा था।

जिस रोज का जिक्र है, उससे कुछ रोज़ पहले बाबा और दादी को विनोद ने पहाड़ भेज दिया था। दिल्ली में बहुत गर्मी पड़ने लगी थी। खुद भी अदालत की छुट्टियों की बाट देखता था। हाँ, तो वह जाय।

पालने के पास से आकर कपड़े उतारने के बाद उसने डाक

देखी। मसूरी से प्रद्युम्न के बाबा ने उसे बहुत-बहुत याद किया है। विनोद को छुट्टी पाते ही प्रद्युम्न को वहाँ ले आना चाहिए। दादी तो प्रद्युम्न की ही रट लगाये रहती है।

विनोद ने देखा छुट्टी में अब पाँच-सात रोज तो रह ही गये हैं। लिख दिया—"अम्माँ, बस अब आया। अम्माँ को छोड़कर मुझसे क्या रहा जाता, पर यह अदालत है, मनहूस। सनीचर को चल दूँगा।" और सोचा, कैसा बड़भागी है मेरा प्रद्युम्न, सबका मन मोह रक्खा है, सबकी आँखों का तारा बन गया है। हाथ-मुँह धोकर वह पालने की तरफ चला।

: ३ :

पिछले अध्याय में नाम की बात छेड़कर उसे कहना भूल गये।

नामों की संख्या असंख्य है, और उनमें रोज बढ़ती होती जाती है। यह प्रद्युम्न नाम तो नाम नहीं है। अच्छे सभ्य अतिथियों को बतलाने के ही काम में यह आता है, व्यवहार में नहीं आता। यों भी अधूरा है। यह नाम कोई ले ही, तो 'बाबू प्रद्युम्न-कुमार साहब' लेना चाहिए, तब पूरा होता है।

नामों में शामिल हैं—पद्दो, पद्दी, पदुआ, पर्दमा, पम्मू, पेमो, पद्मा, पद्मावती, आदि कच्चे-पक्के सभी शिल्पकारों ने इस प्रद्युम्न नामक मूल धातु को मन चाहे अनुरूप गढ़-गढ़ाकर अपने काम के लायक बना लिया है। कुटुम्ब का एक-दो वर्ष का बालक इसे देखकर कहता है—"पुन्" और मानों अपनी इस मौलिक शिल्प-क्षमता का भान करा देने के लिए अपनी माँ की ओर मुड़कर कहता है—"अम्मा, पुन्।" और कहकहा लगाकर हँसता है।

विनोद बाबू की अँग्रेजी शिक्षा और अँग्रेजी प्रतिभाने भी इस

सुगढ़ और सुकर मूलतत्त्व पर अपनी सिरजन-क्षमता को आजमाया है। प्रद्युम्न को संस्कार देकर बनाया गया है—"पूअर डेमन"। कभी कहते हैं "पुर्दमैन"—पुर्तगाल देश से चलकर आया हुआ जीव है। ज्यादा शरारत सूझती है, तो कहते हैं, यह है "फोर डेम्ड"। कहते हैं बस "फोरडेम्ड" है, घसखुदा बनेगा।

लेकिन ये नाम अधिकतर तात्कालिक स्फूर्ति के और क्षणस्थायी होते हैं। असली, बना-बनाया, यथागुण, परिचित, बढ़िया और चिरस्थायी नाम तो वही है—"काठ का उल्लू।" और यह पाँच मास का जीव किसी नाम को स्वीकार करता, और उस पर प्रसन्नता प्रकट करता जान पड़ता है, तो इसी पर। सबसे ज्यादा प्यार का और खुशी का नाम यही है।

एक नाम और भी है—नम्बर चार। आपको यह बतला देना इसलिए भी जरूरी है कि आप जीवन में गणित के एक मौलिक उपयोग से परिचित हो जायँ। देखा जाय तो यह नाम सबसे ज्यादा अर्थ और अभिप्राय पूर्ण है। कुनबे में चार बालक हैं, जिनके नाम स्थिर नहीं, बनते-बिगड़ते रहते हैं, और इसलिए जिनका स्थायी नाम लल्लू ही पड़ा हुआ है। विनोद बाबू ने गड़बड़ मिटाने के लिए, सबसे बड़े का नम्बर एक, दूसरे का दो, और इसी तरह सबसे छोटे इस चौथे का "लल्लू नम्बर चार"—ये नाम रख दिये हैं। यह चौथा तो है काठ का उल्लू, लेकिन शेष तीनों को विनोद बाबू ने अपने-अपने नम्बर अच्छी तरह याद करा दिये हैं। बालक कोई मिलता है तो विनोद जोर से बोलते हैं—

"लल्लू नम्बर...?"

बालक बहुत जोर से चिल्ला कर कहता है—"दो।"

इस प्रकार सब अव्यवस्था मिटा-मिटू कर विनोद ने घर को व्यवस्था और अनुशासन के मार्ग पर डाल दिया है।

विनोद शासन करना नहीं जानता, बस विनोद-ही-विनोद जानता है। कहता है, "घर शासन-शून्य हो तो एक रोज़ होते-होते विश्व शासन-शून्य हो जायगा और यही मोक्ष है। शासन की जगह वहाँ होती है, जहाँ प्रेम को जगह नहीं। और जब किसी में इतना प्रेम नहीं जो घर में फैला रह सके, तो वह आदमी कैसा !"

सुनयना से उसने कई बार कहा है, "देखो, पैसे से और सामान से लोग घर को क्यों भरते हैं ? इसलिए कि वह घर आनन्द से भरा रहे। असली चीज़ यह है। लेकिन लोग हैं बेवकूफ, असली चीज़ भी कहीं बाज़ार में मिलती है ? वह कभी पैसों के भाव आती नहीं। लेकिन हम-तुम नहीं बनेंगे बेवकूफ । क्यों, है न ? जान-बूझ कर क्यों, बनें बेवकूफ ? पैसा रहे रहे, न रहे न रहे, सामान भी चाहे न रहे, यहाँ तक कि रोटी की भी चाहे कभी पड़ने लग जाय, पर घर हमारा सदा चुहल से भरा रहेगा । बस, यही बात है।"

सुनयना जानती थी पैसे की कमी की आशंका के लिए सुदूर--भविष्य में भी स्थान नहीं है। इसलिए उत्तर में कह देती—'हाँ।' बात तो उसकी कुछ विशेष समझ में नहीं आती थी। पर पति की बात के जवाब में हाँ कहने में उसे सुख मिलता था, क्योंकि पति उसकी बात के जवाब में 'हाँ' कहने को सदा उद्यत रहता था।

बस इस खुशी के सिद्धान्त के अतिरिक्त और उसका कोई सिद्धान्त नहीं था। और कोई धर्म नहीं था।

और इस खुशी को चरितार्थ, सजीव और सम्पूर्ण करने के लिए उतर आया था यह मंगलमूर्ति प्रद्युम्न ! विनोद ने समझ

लिया, मेरे जीवन-सिद्धान्त के समर्थन के प्रमाण-स्वरूप ही परमात्मा ने इसे भेजा है, हमारा घर अब स्वर्ग बनेगा। पालने के पास आ कर शिशु को देखने लगे। वह निश्चेष्ट सो रहा था।

देखते-देखते यकायक उसके ओंठ फैले। यह क्या, क्या हँसेगा ?—अरे, यह तो हँस रहा है ! वाह !

सोते बालक का यह मुस्कराना देख बड़ा कुतूहल हुआ, बड़ा विस्मय हुआ। विनोद इस अचरज की बात पर मतिभ्रष्ट होकर बड़े चकराये और बड़े आनन्दित हुए।

कोई मीठा सपना दीखा दीखता है। वाह भई, खूब हँसे।···

इतने में ही फिर बच्चा मुस्कराया। अबके मुस्कान देर तक मुँह पर रही।

विनोद ने कहा, "अरे, आना तो। देखो-देखो, क्या तमाशा हो रहा है ?"

विनोद का इस मामले में कौन भरोसा करे। सुनयना तो फ़िजूल चौके से उठकर नहीं जाती ! वह बोली भी नहीं, चुप रही।

विनोद ने लेकिन चिल्लाया, "जल्दी आ, जल्दी। बिल्कुल फ़ौरन।"

सुनयना ने देखा, पीछा नहीं छूटेगा। बोली, "क्यों चिल्ला रहे हो ? यहाँ आओ, रोटी हो गई है। छोड़ो उसे, सोने दो।"

विनोद का ध्यान बालक में है। उसने सुनयना की बात जैसी नहीं सुनी। बोला, "अरे जल्दी आ। झटपट, तुझे मेरी कसम।"

सुनयना ने समझ लिया, धुन चढ़ी है तो छुट्टी मिलना आसान नहीं है। अब वह उठकर चली जायगी। बोली, "मुझे नहीं लगते यह खेल अच्छे। काम में लगी हूँ, नहीं आती। कैसे आऊँ ?"

विनोद ने त्रस्त भाव से कहा, "अँह, जल्दी से आ। देर कर रही है। फिर सारा खेल बिगड़ जायगा।"

यह सुनने से पहिले ही आने को वह उठ खड़ी हो गई थी। "लो, आती हूँ" कहती-कहती वह आ गई, और विनोद का, मानों बड़ी झुँझलाहट में हाथ पकड़ कर बोली, "बोलो।"

इस पाणिग्रहण ने हठात् विनोद की दृष्टि को सुनयना की ओर उठा दिया। बोले, "देखो।"

लेकिन जहाँ देखने को कहा गया वहाँ देखने को खाक भी न था। बालक यथावत् सो रहा था।

सुनयना ने कहा, "क्या देखूँ?"

विनोद ने अभियुक्त की भाँति उत्तर दिया, "अभी-अभी हँस रहा था। ठैरो, अब फिर हँसेगा।"

सुनयना बोली, "मैं तो नहीं ठैरती। पराँवठा जल जायगा।"

विनोद ने हाथ पकड़ कर कहा, "ठैरो भी। बस, ज़रा ठैरो। तुम इतनी देर में तो आईं, मैं क्या करूँ? अब फिर हँसेगा।

"तुम तो ठाली हो" कहकर ठहरने को सम्मत होकर वह खड़ी रही।

लेकिन प्रद्युम्न अब क्यों हँसे? हँसने के इरादे का कोई चिन्ह उसके मुख पर नहीं दीखा।

विनोद ने कहा, "हँसेगा। देखती रहो हँसेगा, एक बार ज़रूर।"

दिलासा मानो उसने अपने प्रवंचित हृदय को दी।

सुनयना जायगी तो नहीं, लेकिन बोली, "मैं तो जाती हूँ।"

विनोद ने कहा, "न हँसे तो मेरा नाम।" सहसा, देखा कि प्रद्युम्न का मुँह खुला···

विनोद ने विजय-स्वर में कहा, "देखो-देखो। मैंने कहा था न ?"

लेकिन मुँह फैला नहीं, ऊपर को खुला। और बालक मुस्कराया नहीं, उसने जम्हाई ली।

सुनयना ने कहा, "यह हँसी होगी ? बड़ी अच्छी हँसी है तुम्हारी !"

विनोद के लिए किन्तु यह जम्हाई कम विस्मय और कम आह्लाद और कम रहस्य का पदार्थ नहीं है। कहा, "अरे, यह तो जम्हाई भी लेता है ! बिल्कुल हमारी तरह लेता है। देखा तुमने, बिल्कुल हमारी ही तरह इसने जम्हाई ली ? बिल्कुल वैसे ही मुँह नहीं फाड़ा ?

यह कहकर जैसे विनोद कुछ सोच में पड़ गया। जैसे बुद्धि किसी गहरे तत्त्व के अनुसन्धान में चली गई है और बड़े भारी भेद की बात खोलने का काम उसपर आ पड़ा है। विनोद ने, बड़ी चिन्तित मुद्रा से पूछा, "क्यों जी, यह छींकता भी है ?

सुनयना खिलखिलाकर हँस पड़ी।

विनोद ने कहा, "तुम तो हँसती हो। सच बताओ, यह हमारी, तरह छींकता भी है ?

सुनयना और भी हँसी, बोली, "यह क्या हो गया है तुम्हें ?"

विनोद ने कहा, "अच्छा, जम्हाई लेता है, छींकता है; क्या वैसे अँगड़ाई भी लेता है ?"

पत्नी की हँसी का क्या पूछना ?

विनोद ने और पूछा, "और वैसे ही खाँसता है ?

सुनयना खूब ही हँसी। हँसते-हँसते ही विनोद का हाथ पकड़

कर जैसे खींचना चाहते हुए कहा, "चलो अच्छा, खाना खाने चलो।"

विनोद ने कहा, "तो यह पाँच महीने का बच्चा पूरा आदमी है। जम्हाई लेता है, छींकता है, खाँसता है, सब-कुछ है। सारे व्यापार करता है। यह तो बड़ी खूब बात है!"

पति की इन मूर्ख बातों का वह क्या जवाब दे? लेकिन सुन बड़े ख्याल से रही है, इनकी गाँठ बाँध लेगी, और मौकों पर इनका उपयोग करेगी। जब बघार रहे होंगे पण्डिताई, तब छाँट-छाँट कर उनकी इन मूर्खताओं को पेश करेगी।

खींच-खाँच कर वह उन्हें रसोई में ले गई।

: ४ :

खिला रही थी कि लल्लू रोया।

सुनयना पति को थाली पर छोड़ झट से उसे लेने दौड़ गई। गोदी में हिलाती-हिलाती डोल-डाल कर गाने लगी—

आरी चिड़िया आ री आ
लल्लू की चिड़िया आ री आ
लल्लू की निंदिया ला री ला
लल्लू को सुलाती जा।

अपनी अम्माँ के इस आशु-कवित्व पर पहले तो वह लल्लू मुग्ध होता न दीखा। कुछ देर बाद, वह मनने लगा—जैसे सोच-साचकर अपनी कवयित्री माँ की कविता का सम्मान करना उसने तय कर लिया। धीरे-धीरे फिर वह सो चला।

इस समय विनोद ने कहा, "पानी दे दो।"

सुनयना बोली, "मैं तुम से कब से कह रही हूँ, इसके लिए एक

नौकर रख दो। अब मैं इसे खिलाऊँ कि पानी दूँ? मैं ही जानती हूँ, कैसा पिसना पड़ता है मुझे।"

विनोद ने कहा, "अच्छा, मैं ले लेता हूँ पानी।"

लेकिन सुनयना के रहते पानी खुद कैसे लेंगे? बोली, "हाँ, पानी तो ले लोगे, ये नहीं कि मैं कहती हूँ, सो नौकर रख दो।"

इतना कहकर लल्लू को फिर पालने में लिटा दिया, और पानी दे दिया। बोली, "सच, देखो, बड़ी दिक्कत होती है। नौकर रख लोगे तो वह बाहर भी घुमा लाया करेगा। अकेली घर में मैं ही तो हूँ—सो सारा घर का काम भी और बच्चे की सारी देख-सँभाल भी।....यह एक पराँवठा और लो....अच्छा आधा..."

विनोद ने इस सत्य को प्रत्यक्ष देख लिया है। वह क्या सुनयना पर काम का बहुत बोझ रखना चाहता है। लेकिन गम्भीर, चुप है।

सुनयना कह रही है, "और, देखो तुमने कहारिन भी नहीं रक्खी। मैं कबसे कह रही हूँ। तुम्हें ऐसा क्या हो गया है। मेरी बात कान पर ही नहीं लाते। इससे सुनी उससे निकाल दी। ऐसे तो मैं एक रोज चल दूँगी, फिर तुम सोचोगे, मैंने उसकी बात क्यों नहीं मानी।..."

विनोद क्या मन-ही-मन इस अप्रिय बात को खूब अच्छी तरह नहीं जानता? लेकिन अपनी इस प्यारी सुनयना की बातों पर एकदम से 'हाँ' कहना भी उसके सामर्थ्य में नहीं है।

सुनयना ने कहा, "पहले कहते थे, बेटा होगा तो यह करेंगे, वह करेंगे। एक गाड़ी रक्खेंगे, तीन नौकर रक्खेंगे। अब यह चाँद-सा बेटा मिल गया है, तो कुछ सुध नहीं करते। ऐसी जाने क्या बात हो गई। पहले मेरा मुँह जोहते थे, मैं कहूँ, तो तुम पूरी

करो। अब कहते-कहते हार गई, तुम जरा ध्यान नहीं लाते। अच्छा, कहारी जाने दो, लल्लू के लिए एक लड़का जरूर रख दो। देखो इतना कर दो, बच्चा बेचारा आराम पा जायगा।..."

विनोद का मन समझता नहीं है, सो नहीं है। और वह मन दुखी भी है, क्योंकि प्रेम से भरा है। लेकिन विनोद ने कहा—"बच्चा इसलिए थोड़े ही होता है कि नौकरों के हाथ वह खेले। माँ-बाप को उसे दुनिया में लाकर, अपने ही हाथों उसे दुनिया में अपने पैर जमाकर खड़े होने लायक बनाना चाहिए। और नौकर बड़े ऐसे-वैसे होते हैं, सो बच्चों को उनके हाथों सौंपकर माँ-बाप बड़ी गलती करते हैं। और घर में रुपया है, सो तुम ऐसा कहती हो। रुपया नहीं होता तो क्या करतीं? और रुपया है, इसलिए उसे अपना समझकर मनमाना खर्च हम थोड़े ही कर सकते हैं। उसे अपना नहीं समझना चाहिए, अपने को गरीब ही समझना चाहिए और जितनी जरूरत हो उतना ही खर्चना चाहिए।"

विनोद के प्रेम को तो सुनयना समझती है, लेकिन उस प्रेम पर यह जो और एक अजनबी वस्तु हावी हो गई है, उसे बिल्कुल नहीं समझ पाती। बोली, "हमारा रुपया हमारा नहीं है, और हम उसमें से बच्चे के लिए एक नौकर भी नहीं रख सकते, यह तुम कैसी बात कहते हो? तुममें नेक दया नहीं रह गई है। साफ क्यों नहीं कहते, नौकर नहीं रखना चाहते, मुझे ही पीसना चाहते हो।"

विनोद ने कहा, "हाँ, नौकर रखना चाहकर भी नहीं रख सकता। या कहो; नहीं ही रखना चाहता। और चाहता हूँ घर के काम और बच्चे के काम को हमीं दोनों आपस में निभाकर, पिसें नहीं, धन्य हों। और मैं उस धन्य-भाव को किसी किराये के आदमी के साथ साझा देकर नहीं बाँटना चाहता। और रुपया हमरे पास रक्खा है,

इसलिए हमारा कैसे हो गया? चोर ले जाकर अपने घर में गाड़ ले, तो वह फिर उसका हो गया? नहीं, न वह चोर का है, न मेरा है। सब परमात्मा का है। हम अपना कहें, तो वह तो वैसे ही हुआ जैसे चोर अपना कहे।"

इन गड़बड़ बातों को लेकर सुनयना क्या करे? सन्तोष होता नहीं, निरुत्तर हो जाना पड़ता ही है। कहा, "रुपया खूब जमा-जमा कर रक्खो। मालूम नहीं, उसका क्या करना चाहते हो। और मैं मुफ्त नौकरनी मिल ही गई हूँ, सो सब काम से लदी खिंची-खिंची मौत के दिन तक चली चलूँगी।"

ऐसी बात सुनयना कहती तो है, पर यह नहीं कि अपने प्रति पति के प्रेम के बारे में जरा संदिग्ध है। ऐसी जोर की और तीखी बात तो इसलिए कहती है कि वह पति को हराना चाहती है। तर्क के उत्तर में तर्क न देना आदमी से नहीं होता, और जब नीचे तल के साधारण तर्कों की कमी होती है, ऊँचे या गहरे तल के तर्कों से काम लिया जाता है। इसी प्रकार का एक गहरा तर्क है, व्यंग एक है क्रोध; एक है 'धमकी'; और एक है, 'मृत्यु का स्मरण और आवाहन'; लेकिन सबसे द्रावक और मूर्तिमान् तर्क है—'आँसू'। सुनयना ने अपने ढँग का तर्क दिया, और साथ ही उसकी पुष्टि के लिए आँखों में आ चमके आँसू।

विनोद ने कहा, "अच्छा-अच्छा रख लो। मैं ढूँढ दूँगा एक नौकर। कहारी को भी कहूँगा। लेकिन, सुनिया, उस कहारी के घर में भी क्या कोई कहारी लगी होगी? क्या नौकर के भी कोई नौकर होगा? फिर हम क्यों दम्भ करें?..."

जब पति झुक गया तो पत्नी ने भर पाया। बस, विनोद हार गया; अब पति की उस हार को लेकर कोई वह अपने पास थोड़े

ही रख सकेगी ? उसे कायम कैसे भी नहीं रहने देगी। उसका मतलब तो पूरा हो गया, उसका मान रह गया; अब बड़ी कृतार्थता के साथ अपने मान को खंडित करके अपने उस खंडित मान की भेंट पति के चरणों में रख देगी। खुद हार जायगी; और पति की हार को अपने सम्पूर्ण समर्पण के साथ उसे लौटा कर कहेगी—"देव, मैं तुम्हें हारने नहीं दूँगी। तुम सदा-सदा दासी पर विजय पाओ। पर उस दासी का मान भी कभी-कभी ऐसे ही रख लिया करो।" सुनयना ने कहा, "तो मैं कब कहती हूँ, नौकर रखने की। अब कभी नहीं कहूँगी। लल्लू को देख-देख, कभी कह देती हूँ, सो कभी नहीं कहने की।"

विनोद ने सुनयना को देखा। जैसे सुनयना की आँखें कह रही हैं, "मैं अलग नहीं रहूँगी। तुम में ही मिल जाऊँगी। तुम में खो जाऊँगी।"

विनोद खा चुके थे, पर थाली पर ही बैठे थे। वहीं बैठे-बैठे उन्होंने पत्नी का हाथ पकड़ कर खींच लिया, और उस हाथ का चुम्बन ले लिया; मानों कहा, "तुम्हें मैं नहीं खोने दूँगा। उससे पहले ही मैं तुम में हो जाऊँगा, तुम से बाहर होकर शेष नहीं रहूँगा।"

: ५ :

गोदी में प्रद्युम्न है। बड़ा मगन है। अभी अच्छी तरह बैठ नहीं सकता; लुढ़क-पुढ़ककर हाथ-पैर इधर-उधर फेंक सकता है। वह हाथ जब निष्प्रयोजन नाचते-हिलते किसी वस्तु का स्पर्श पा जाते हैं, तो फिर तुरन्त उस वस्तु को मुँह में पहुँचा देने का अपना कर्त्तव्य मानते हैं। हाथों के चालन-क्षेत्र में ठोस रुकावट का पदार्थ

बनकर दाखल होने का अपराध लेकिन पैरों से ही अधिक होता है। टाँगें, न जाने क्यों, कभी सीधी होकर लेटती नहीं है, और पैरों को उन हाथों की पकड़ में आने देने से डरती नहीं हैं। हाथ एकाध बार तो जैसे देखी-अन-देखी करते हैं। लेकिन जब दूसरे के राज्य में बिल्कुल गैर-कानूनी तौर पर बेजा मदाखलत करने से ये पैर बाज़ ही आते नहीं मालूम होते तो कर्तव्यवश हाथों को उनके अँगूठे-रूपी कानों से पकड़कर मुँह के दर्बार में ले जाना होता है। मुँह तक चूसचास कर उनका संस्कार करते हैं, और दन्तविहीन पपोटों से दबाकर मानो यह चेतावनी देते हैं—'अब तो इतना ही। लेकिन अब आ रहे हैं दाँत। सशस्त्र हो जायँ हम, तब कहीं फिर शरारत मत कर बैठना। नहीं तो तुम्हारे चोट लगेगी। जाओ तुम अब।' फैसला हो जाने पर फिर हाथ-पुलिस अपनी पकड़ ढीली कर देती है, और पैर छिटक कर दूर भाग जाते हैं।

अभियुक्त बरी कर दिया गया था, अदालत का घर खाली था, पुलिस की पकड़ में कोई अपराधी आता नहीं था। अब माल की और काम की ज़रूरत है। तभी आ गई सबेरे की डाक।

इनमें से ज़रूर कोई शिकार हाथ में आना चाहिए। बालक की आँखें उस माल पर लग गईं।

विनोदने एक हाथ से बालक को गोदी में कुछ और निकट ले लिया। दूसरे को सामने किया।

नौकर ने डाक लाकर उस हाथ पर रखी।

तभी बालक ने झपट्टा मारा।

झपट्टा पड़ा ओछा, हाथ तक पहुँचा भी नहीं।

विनोद ने कहा, "अरे, ठैर रे, काठ के..."

लेकिन बड़ी सख्त जरूरत है कुछ-न-कुछ के मुँह में पहुँचाने

की । ठहरना बिल्कुल नहीं हो सकता । हाथ लपकना नहीं छोड़ सकते ।

विनोद ने डाक को नीचे डाला। आलोचनार्थ आये हुए साप्ताहिक पत्र को बिछाया और बालक को उठाकर उसके पास छोड़ दिया । कहा, "ले, कर आलोचना । अब तू ही कर डाल । लेकिन थोड़ी करियो, कहीं समूची ही कर डाले कि कुछ मेरे लिए बाकी ही न बचे।"

अब अच्छी तरह चबा-चबूकर खाये बिना तो पूरी तरह वस्तु का स्वाद जाना नहीं जा सकता, और उसके तत्त्व के सम्बन्ध में यथार्थ आलोचना की नहीं जा सकती । इसलिए ज़ोर-शोर के साथ बालक ने यही उपक्रम बाँधना आरम्भ किया । नीचे पड़े उस साप्ताहिक की छाती पर सवार होकर दोनों हाथों से उसके मर्म को पकड़कर अब उदरस्थ किया जायगा ।

उसने दोनों हाथ पत्र पर देकर मारे, फिर इकट्ठा करके उनकी मुट्ठी बाँध कर मुँह तक पहुँचाया । मुँह के अन्दर जब केवल वे बँधी मुट्ठियाँ ही पहुँची, उनके भीतर से जब कुछ और रस नहीं प्राप्त हुआ, तब पता चला कि इस धराशायी दलित अपदार्थ ने भयंकर धोखा दे डाला है । अब मिच-मिचाकर हाथ मारे गये । इस बार उन दोनों मुट्ठियों के बीच में सिमटा-सिमटाया अख़बार का बहुत-सा भाग भी उठा चला आया । उसमें जितना कुछ मुह में दाख़िल हो सका, उसे आम की तरह चूस कर स्वाद की परख आरम्भ हुई । इधर हाथ अख़बार की खींच-तान में लगे रहकर कागज़ की मज़बूती जाँच रहे थे ।

किन्तु पत्र की अत्यन्त मिठास और रस-हीनता को जान लेने में विशेष देर न लगी । तब बालक ने ज़ोर-ज़ोर-से चीख़ कर इसकी

घोषणा आरम्भ कर दी कि पदार्थ नितान्त अस्वाद और अनुपादेय है।

ऐसे समय विनोद को हाथ की चिट्ठियों को फेंक देना पड़ा। उसने बालक को गोदी में उठा लिया, कहा—"हो गई भई आलोचना!" और साप्ताहिक पर ठोकर मारकर कहा—"हट किसी काम का नहीं है तू। कड़वा-कड़वा थुः है।" ऐसा कहकर उसे और मारा, और उसपर बिना-थूके थूका। जान पड़ता है, इस प्रकार पत्र के प्रति बालक के मन की प्रतिकूलता और कड़वाहट तृप्त नहीं हुई, रोना जारी ही रहा।

तब डोल-डोलकर उसे बहलाने के विनोद ने अन्य यत्न किये।

लेकिन नहीं—सुनयना झट आ पहुँची थी। उसने पूछा—"क्या है?"

विनोद चलते-चलते एक जगह एकदम बैठ गया। पास ही पड़ा था एक चम्चच, उसे उठाकर फर्श पर मारने लगा, "आ हा रे, ओ हो रे...।"

बालक चुप नहीं हुआ। सुनयना को आदेश हुआ, "वह पंखा उठाना।"

सुनयना ने पंखा उठाकर ला दिया। उस पंखे की डंडियों से फिर फर्श को पीटा जाने लगा। कभी बीच-बीच में उसी से बालक की हवा भी की जाती।

उस समय विनोद को कुछ याद आया। कहा, "अरे, वह झुनझुना तो लाना।"

सुनयना ने कहा, "कहाँ है..."

विनोद ने कहा, "जल्दी से ला...."

सुनयना चली गई।

विनोद ने भाँति-भाँति की जुगत से बालक को मनाने की कोशिश शुरू की। सुनयना लौटी। उसकी तरफ़ बिना देखे ही विनोद ने हाथ फैला दिये, कहा, "लाओ।"

सुनयना ने कहा, "क्या लाऊँ? कहीं मिलता भी हो।"

विनोद ने कहा, "मिलेगा क्यों? कहीं रक्खा जाय ठीक जब न...बस, यह हाल है।"

सुनयना बोली, "हाँ, यह हाल है। बड़े सारे झुनझुने लाकर रक्खे थे न, जो मैंने खो दिये।"

विनोद ने कहा, "अरे, तो कुछ और ला दो। देखो, यह रो रहा है।"

सुनयना, "ला न दूँ कुछ और। बड़ी चीज़ ला दी हैं न, जो उठा लाऊँगी हाँ तो, कहते-कहते हार गई, कभी हाथ में जो दो खिलौने लेकर लौटते हों।"

इधर बालक ने पास ही एक लावारिस पड़े चम्मच पर कब्जा कर लिया था। इस वस्तु के साथ कुश्ती लड़ने में उसे रोने का ध्यान जाता रहा था।

विनोद ने कहा, "अरे, तुम तो झगड़ती हो!"

सुनयना ने कहा, "झगड़ने की बात ही तुम करते हो। सच बताओ, कभी भूलकर कोई खिलौना लाये हो! फिर कहते हो, यह लाना, वह लाना। जिसपर कहते हो, मैं झगड़ती हूँ।"

विनोद, "अच्छा-अच्छा, अब नहीं कहूँगा।"

सुनयना, "नहीं, कहोगे क्यों नहीं। पर लाकर दिया भी तो करो। सच, अबके ला देना,—वह होते नहीं हैं, छोटे-छोटे रबर-के-से जापानी खिलौने।"

विनोद, "जापानी खिलौने? जापानी कैसे लाये जाएँगे?"

सुनयना, "तो और ले आना। देसी ले आना।"

विनोद, "देसी, मिट्टी के? सबेरे आये, शाम को टूटे दीखेंगे।"

सुनयना—तो काठ के ले आना।

विनोद—काठ के अच्छे नहीं आते। अच्छे आते हैं तो दाम लगते हैं बहुत।

सुनयना, "तो और कैसे भी ले आना।"

विनोद, "और कैसे भी कैसे? कुछ समझ में भी आवे।"

सुनयना, "तो मत लाना, बस। हाँ, तो। समझ में कैसे आये? समझ में आये तब जब तबीयत हो। इसमें यह है, उसमें वह है, बस नुकस इनसे सब बातों में निकलवा लो, जो कभी कुछ करके भी रखते हों। कहते-कहते यहाँ जबान घिस जाय; पर इनको क्या पड़ी? अब मैं भी हूँ, जो कभी इनसे किसी बात को कुछ कहा।"

इतना कहकर, एक झपट्टे में फर्श पर से खेलते हुए बालक को उठाकर, सर्र से अपने कमरे में चली गई।

विनोद पहले तो मुस्कराने को हुए, फिर कुछ अप्रतिहत होकर अपनी बैठक में लौट आये और कपड़े पहनने लगे।

और बाज़ार से लाये एक अठारह रुपये की मोटर।

डिब्बे से निकालकर उसमें चाबी भर के आँगन में ज़रा किसी वस्तु से अटकाकर ऐसे रख दी कि खुद चले नहीं, और ज़रा उस प्रतिबन्ध को सरकाया नहीं कि फर्र से दौड़ पड़े। फिर उसके ऊपर चादर ढक दी। और गये।

सुनयना बालक को बराबर में लेकर पलंग पर लेटी है। बालक सो गया है। सुनयना की आँखें मुँदी है, पर सो नहीं रही है। इस बालक के प्रति खोलकर अपना हृदय सामने रखकर जब इसने अपनी छाती का दूध उसे पिलाया है, तब चुपचाप कुछ आँसू भी

डाले हैं। इस छोटे-से अपने कलेजे के टुकड़े को सामने पाकर भीतर-भीतर से कुँठित स्नेह का आवेग आँसू और दूध बनकर बाहर झर गया है। इससे अब वह कुछ स्वस्थ है। और यों आँख मूँदे, जगी हुई, कुछ प्रिय स्वप्न ले रही है।

विनोद ने दबे पाँव प्रवेश किया। देखता रह गया।

फिर बाँह पकड़कर हिलाते हुए कहा, "उठो तो।"

ठीक यही स्वप्न वह ले रही थी और इसी तरह हाथ पकड़कर उठाये जाने का स्वप्न बस अब आ ही रहा था। लेकिन उस वक्त के आजाने पर किस तरह से क्या करके उत्तर देना होगा, इसके बारे में जो कुछ सोचा था वह एकदम से याद से उतर गया है, उसी को खींच ले आने के लिए याद गई हुई है। इसलिए विनोद के उपद्रव के उत्तर में निरुत्तर होकर वैसे ही आँख मीचे उसे पड़ा रहना पड़ गया।

विनोद ने बाँह को और जोर से हिलाते हुए कहा, "उठो, उठो। उठना ज़रूर होगा। और उठकर अभी मेरे साथ चलना होगा।"

स्मृति बिल्कुल विलुप्त हो गई है और इस पति नामक देव का उत्पात बढ़ता ही जाता है। सुनयना ने कहा, "सोने दो हमें। हम नहीं कहीं जाते।"

पति ने कहा, "जाना तो पड़ेगा ही।" और कहकर इतने जोर से बाँह को हिलाया, जैसे द्वार की कुण्डी को पकड़कर बड़े जोर से हिला-बजाकर चेतावनी दी जा रही हो कि इस बारे में भीतर कोई सन्देह हो तो उसे फौरन भाग जाना चाहिए!

सन्देह तो सुनयना के मन में बिल्कुल नहीं रह गया। लेकिन कहा, "नहीं जायेंगे हम। हमें नींद आ रही है। हाँ तो, एक घड़ी चैन नहीं लेने देते।"

विनोद ने इस पर दूसरे हाथ को भी क़ब्जे में किया और दोनों से खींचकर उसे उठाना शुरू कर दिया।

सुनयना ने इस आपत्तिकाल में अपनी टेक को विसारकर, बड़ी शीघ्रता से आँख खोलकर कहा, "अरे तो छोड़ो, मैं खुद चलती हूँ। ऐसा भी क्या!"

चल-चलाकर आँगन में आये। चादर से ढके पिरामिड को दिखाकर कहा, "अच्छा, बताओ, इसमें क्या है?"

सुनयना ने कहा, "मैं क्या जानूँ?"

विनोद, "अरे, सोच कर बताओ।"

सुनयना, "मैं क्या जानूँ?"

विनोद, "ठीक-ठीक बताओगी, तो चार पैसे मिलेंगे।

सुनयना, "मैं नहीं जानती।"

विनोद, "अच्छा, एक है ताजबीबी का रोजा, दूसरा है कुतुब-मीनार। इन दोनों में से यह क्या चीज़ हो सकती है?

सुनयना, "मैं कुछ नहीं बताती।"

हार-हूरकर विनोद ने कहा, "अच्छा तो जरा दूर हो जाओ। जो कुछ है वह काटने को दौड़ेगा।"

सुनयना की मंशा तो दूर होने की नहीं थी, पर कुछ निकलकर इसमें से सचमुच काट-कूट खाय तो? वह पीछे हट गई।

विनोद ने चादर हटाने में सफ़ाई से वह रुकावट भी दूर कर दी।

फर्र-फर्र करके मोटर वह-जाय वह-जाय।

जब देखा कि यह मोटर सत्याग्रह करके इस दीवार या उस चीज से टक्कर खाते-खाते बाज ही नहीं आती, तब उसे यत्न से दबोचकर काबू करके विनोद ने बक्स में बन्द कर दिया।

सुनयना ने पूछा, "यह क्या ले आये ?"

विनोद ने कहा, "तुम कहती थीं खिलौना-खिलौना। मैंने भी कहा, लो।"

सुनयना, "यह विलायती थोड़े ही है।"

विनोद, "अरे, विलायत बड़ी कि तुम ?"

सुनयना, "लल्लू तो इसे बड़ा खेल के रखेगा न।"

विनोद, "तो न लाता ?"

सुनयना, "लाते तो छोटे-छोटे लाते, जो कुछ काम के भी होते लल्लू के। उठा लाये यह ढीम !—कितने का है ?"

विनोद, "भई, यह बड़ी मुश्किल है। अब कितने का ही हो, तुम्हें क्या। जब पसन्द ही नहीं आया, तो जाने दो।"

सुनयना ने एकदम विनोद का हाथ पकड़कर कहा, "नहीं, सच, कितने का है ?"

विनोद ने कहा, "कितने का है ? है अठारह रुपये का। अब कह दिया तो कहोगी, मैं बेवक़ूफ़।"

सुनयना ने बहुत हँसकर कहा, "तो ठीक तो है। अठारह डाल आये, जब पाँच में दुनिया भर के खिलौने आ जाते और लाये भी क्या कि......

विनोद ने झट उसके मुँह पर हाथ रखकर कहा, "तुम्हारा सिर।"

: ६ :

दफ्तर से लौटकर आये हैं। अब खाना खा-वाकर कचहरी जायँगे। उसी समय सुनयना ने आकर सूचना दी, "लल्लू को खाँसी बड़ी उठने लगी है। न जाने कैसा जी है।"

विनोद ने कहा, "खाँसी ?"

सुनयना ने कहा, "हाँफ-हाँफ जाता है। ऐसी उठती है कि फिर बड़ी देर में रुकती है। बड़ी तकलीफ़ देती है।

विनोद ने कहा, "अरे क्या खाँसी-वाँसी।" ये तो हुआ ही करती हैं। ज्यादे वहम नहीं किया करते।

सुनयना, "किसी को दिखा-दिखू देते ज़रा। रोग बढ़ जाय, फिर हाथ नहीं आता।"

विनोद, "क्या दिखाना-दिखूना करती हो। अभी से समझ बैठीं कि रोग हो गया। भला खाँसी भी रोग है? पर पहले से ही सोचने लगोगी तो रोग न होगा, तो हो जायगा।"

सुनयना, "तुम्हारी मर्ज़ी। मैं तो कहती थी कि नेक कोई देख जाता, देखने में तो कोई हर्ज है नहीं; ज्यादे क्या, दवा मत करना।"

विनोद, "देखो सुनयना, मैं तुम से कहता हूँ कि किसी को भूलकर भी न दिखाना। जब बच्चे से हाथ धोना तय कर लो, तब डाक्टर हकीम की याद करना।"

ऐसी बात के आगे सुनयना से कैसे चला जाय? जी तो नहीं माना, पर चुप हो गई।

विनोद ने कहा, "दिखाना तो, कहाँ है?"

जहाँ शिशु लेटा हुआ था सुनयना उसे वहाँ ले गई। विनोद ने उसकी नाड़ी देखी—कुछ तेज़ मालूम हुई। माथे पर हाथ रख-कर देखा—जैसे देही कुछ गरम हो।

कुछ ठहरकर कहा, "ख़बरदार, जो किसी को दिखाया।"

यह ख़बरदारी की हिदायत स्पष्ट रूप से उन्होंने सुनयना को ही की हो, लक्षणों से ऐसा न जान पड़ा। उस समय उनकी निगाह बच्चे की तरफ ही थी। मानों उसको उपलक्ष में रखकर सब किसी

को इस खबरदारी की ताकीद कर रहे हैं अपने आपको भी कर रहे हैं। मानो कह रहे हैं, "खबरदार, जो हमारे बच्चे को कुछ होने दिया।"

फिर ऊपर आँख उठाकर सुनयना की तरफ देखकर कहा—"कुछ हुआ भी हो। बिलकुल तो ठीक है। फ़िक्र ऐसी करने लगीं, जाने क्या हो गया ! फ़िक्र को पास मत लाना। अपनी चिन्ता का असर बालक पर पड़ता है।"

इतनी बातों से माता का जी बालक की ओर से कुछ स्वस्थ हो गया।

कुछ रुककर विनोद हँसा, बोला, "वाह, सुनयना, तुम भी खूब हो। छींक आ गई—दौड़ना। खाँसी आई,—लाना डाक्टर। तुम तो तमाशा करती हो। ज़रा-ज़रा-सी बात को मन में मत लाया करो। कुछ हो जाय तो जाने क्या करो।—सो बच्चा बहुत ही अच्छा है, ज़रा कुछ भी बात नहीं है। देखो न, कैसा सो रहा है।"

इतना कहकर बालक के नन्हे से हाथ को उठाकर चूम लिया, और चला गया।

खा-पीकर कचहरी पहुँचा, तो ज़रा सबेर थी। और वकील अभी नहीं आये थे।

बार-रूम की लायब्रेरी के लायब्रेरियन चपरासी को मेज-कुर्सी-अलमारी वग़ैरह झाड़न से झाड़-बुहार देने का हुक्म देकर आप एक तरफ़ एक आराम-कुर्सी पर पड़े आराम कर रहे थे। वकील-बाबुओं के आ धमकने से पहले उन्हें ये तीस-चालीस मिनट मिलते हैं, जब ये अपने प्रभुत्व का आतंक जमाने का अवसर पाकर जीवन की श्रेष्ठता अनुभव करते हैं, और मन-ही-मन उसका रसास्वादन करते हैं। टाँग फैलाकर और आँख मीचकर कुर्सी पर पड़े-

पड़े, और हुक्म के मुताबिक तत्परता के साथ झाड़न से मेज़-कुर्सियों के झाड़े जाने के शब्द को आत्मतोष के भाव से सुनते-सुनते, वह इस समय जीवन के इसी अत्यन्त गौरवमय कार्य को सम्पादन कर रहे थे।

पास पहुँचकर विनोद ने कहा, "लायब्रेरी में डाक्टरी की किताबें बिलकुल नहीं हैं?"

आवाज़ पड़ते ही लायब्रेरीयन कुर्सी से हड़बड़ाकर उठे। यह उन्होंने क्या सुना—क्या नहीं है? इस तरह समय से पहले इस बार-लायब्रेरी में आकर कोई वकील एकाएक किताब के लिए पूछेगा, तो क्या पूछेगा कि डाक्टरी की किताबें कितनी हैं? ऐसी तो सम्भावना कैसे भी नहीं हो सकती। इसलिए अपने ऊपर अत्यन्त अविश्वास करते हुए, फिर हुक्म दिये जाने की प्रतीक्षा में, लायब्रेरीयन उत्तर-विमूढ़ होकर खड़े रहे।

विनोद बोला, "मैं कहता हूँ, डाक्टरी की किताबें यहाँ क्या बिलकुल नहीं रहतीं?"

डरते-डरते पूछा, "डाक्टरी की?—डाक्टरी की तो जी, यहाँ नहीं रहतीं।"

"एक भी नहीं है?"

"नहीं जी।"

"अच्छा, केटलाग लाओ।"

केटलाग देखने के बाद कहा, "अच्छा, इन्साइक्लोपीडिया कहाँ रखी हैं?"

एक छोटी-सी मेज़ पर तीन-चार इन पोथों की मोटी-मोटी जिल्दों को लेकर कमरे के एक कोने में बैठ गया।

समय हो गया। वकील आ गये। कमरा बूटों की चर्मराहट से

बोल रहा है। लोग हँस रहे हैं, बोल रहे हैं, इधर-उधर जा रहे हैं। सब कुछ खिल उठा है।

लेकिन विनोद एकचित्त होकर भी अब तक इन इन्साइक्लोपीडिया में से जो कुछ देखना है, नहीं देख पाया। देखता है, और नोट करता है, फिर आगे पढ़ने लगता है।

धनीचन्द वकील ने इन मोटे पोथों को पहचानकर कहा, "विनोद बाबू, यह क्या कर रहे हो ? इतना स्टडी करोगे ?"

विनोद ने कहा, "कुछ नहीं। यों ही देखता था।"

ऐडवोकेट कुबेरप्रसाद ने कहा, "विनोदभूषण, क्या कोई बड़ा पेचीदा केस है ?"

विनोद ने जरा मुँह ऊपर उठाया, जैसे इस प्रश्न करने के कष्ट उठाने की कृपा के प्रति आभार प्रदर्शित किया हो, तनिक मुस्कराया, और फिर सिर झुकाकर पढ़ने लगा।

थोड़ी देर में मवक्किलों ने आ घेरा। मुन्शीजी कुर्सी के पास आकर हाजरी में खड़े हो गये।

लेकिन जो उन लोगों ने विनोदभूषण के खुद ध्यान बँटने की थोड़ी देर आशा और प्रतीक्षा की, वह पूरी नहीं हुई। मुन्शी ने कहा, "बाबूजी !"

विनोद ने मुँह उठाया। सालिगराम, नत्थनलाल, परसादीमल, देवीसहाय और मन्सासिंह, सब-के-सब, अपने कागजों के साथ चौकस बैठे थे। उनकी अभ्यर्थना करके विनोद ने मुन्शीजी को वकील धनीचन्दजी को बुलाने की आज्ञा दी। उन लोगों से कहा, "देखिए, आज आप लोग मुझे माफ़ करेंगे। मेरे सिर में दर्द है। लेकिन बाबू धनीचन्द मुझ से भी अच्छा आपका काम करेंगे। आप फ़िक्र बिलकुल न करें।"

इन लोगों में से किसी ने हल्की आपत्ति और किसी ने समवेदना प्रकाशित की।

धनीचन्दजी के आते ही विनोद ने कहा, "देखिए, यह बाबू धनीचन्दजी आ गये हैं। मैं इनको, थोड़े में, आपका केस समझा दूँगा। इनसे अच्छा आपको काम करने वाला नहीं मिलेगा। बाबू धनीचन्द से अँग्रेजी में कहा, "भई धनीचन्द, ज़रा इनका काम सँभाल देना। मैं आज कुछ नहीं कर सकूँगा।"

धनीचन्द ने पूछा, "क्या बात है ?"

विनोद ने कहा, "बात क्या, कुछ नहीं। सिर में दर्द है।"

इतना कहकर आगत समुदाय के केसों की एक-एक फ़ाइल लेकर धनीचन्द को हर-एक के बारे में दो-दो बातें कह दीं।

कहना न होगा कि धनीचन्द इन केसों को लेकर अप्रसन्न नहीं हैं। विनोद बेगार-प्रथा का विरोधी है; और धनीचन्द ख़ाली रहने से इतने डरते हैं कि बेगार को भी ग़नीमत मानें।

समझ-समझाकर धनीचन्द ने कहा, "मैं सब ठीक कर दूँगा।" मवक्किल सम्प्रदाय की ओर मुड़कर दोबारा कहा, "मैं सब ठीक कर दूँगा। आप फ़िकर न करें, मैं सब बिलकुल ठीक कर दूँगा।"

इस दो-तीन बार के आश्वासन दिये जाने ने आश्वासन का हो जाना और कठिन बना दिया। धनीचन्द की व्यग्रता ने मवक्किलों को पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं होने दिया है—विनोद ने यह देखा। कहा, "आप लोग बेफ़िक्र होकर अब जा सकते हैं।"

धनीचन्द ने भी देखा कि उनके भीतर की सन्देहवृत्ति जो अत्यधिक आत्मविश्वास की भीख माँगती हुई प्रकट हो रही है, वह गड़बड़ ही उपस्थित कर रही है, विश्वास की जगह सन्देह को ही उपजाती है। उसी समय विनोद सामने आकर, निश्चित बात कह-

कर, संशय को छिन्न करके उन्हें उबार लेता है। जैसे वह बच गये, नहीं तो डूबे जा रहे थे। वह विनोद के आभारी हुए। अब अपने को संकट में नहीं डालेंगे, तुरन्त चले जायँगे। लाला लोगों के साथ उठकर वह भी चल पड़ने को तैयार हो गये। बोले, "विनोद, सिर में दर्द है तो यहाँ आकर इन पोथों से क्यों मग़ज़पच्ची करते हो ?"

विनोद ने कहा, "नहीं; यों ही वक्त काटता था। धनीचन्द ने चलने के लिए मुड़ते हुए कहा, "विनोद, अब तुम घर जाकर आराम करो न। बाकी फ़िक्र न करो, मैं सब ठीक कर दूँगा।"

धनीचन्द यह कहकर चल दिये। विनोद फिर सिर झुकाकर इन्साइक्लोपीडिया में फँस गया। क्षण-भर में फिर सिर उठाया, और आवाज़ देकर धनीचन्द को फिर वापिस बुला लिया। कहा, "धनीचन्द, तुम्हारा भतीजा बीमार है।"

धनीचन्द, "तो पहले से क्यों न कहा ? यही वजह है तो फिर तुम्हारा काम न करने की।"

विनोद, "बीमारी-वीमारी कुछ ऐसी नहीं है। खाँसी है। पर खाँसी बढ़ जाय तो।......"

धनीचन्द, "किसकी दवा की है ?"

विनोद, "दवा ? दवाओं से तो मैं घबड़ाता हूँ।"

धनीचन्द, "नहीं, डाक्टर को दिखा देना अच्छा होता है। इन्साइक्लोपीडिया से डाक्टर अच्छा रहेगा।"

विनोद ने जैसे यह बात नहीं सुनी। कहा, "धनीचन्द, कभी घर आना न। अपने भतीजे को देख आना।"

धनीचन्द ने कहा कि ज़रूर आयँगे। आज क्या है, बृहस्पति-वार; इतवार को आयँगे। इतवार ही अवकाश का दिन है।

विनोद ने कहा, "ज़रूर आना। जल्दी आ सको तो अच्छा।

......अब मैं तुम्हें काम से क्यों रोकूँ ? जाओ। पर; आना, देखो। प्रद्युम्न याद करता है।"

धनीचन्द के चले जाने पर पन्द्रह-बीस मिनट तक और विनोद इन्साइक्लोपीडिया में व्यस्त रहा। फिर, जैसे सन्तोष नहीं हुआ, वहाँ से शहर की बड़ी पब्लिक लायब्रेरी गया। वहाँ से बहुत से नोट्स इकट्ठे करके लाया। दिन के कोई दो बजे घर आ पहुँचा।

सुनयना ने कहा, "आज जल्दी आ गए।"

बहुत खुश होकर विनोद ने जवाब दिया, "सबेरे से बैठा था, कोई काम आये, काम आये। मक्खी मारते-मारते मुझ से तो ज्यादे और बैठा नहीं गया। यहाँ चला आया। यहाँ आराम से तो तुम्हारे पास बैठूँगा।...वह लल्लू-का-उल्लू कहाँ है ?"

सुनयना, "बड़ी मुश्किल से अभी हाल सुला के चुकी हूँ। बड़ा रोता था। उसका जी अच्छा नहीं है, भीतर से कल नहीं पड़ती, रोये नहीं तो विचारा क्या करे। यह समझो, बड़ा दम साध के सोया है।"

विनोद ने कहा, "देखो, फिर वही। हिम्मत के साथ बोलो। ऐसी रोती चिन्ता की आवाज़ में नहीं बोला करते। इस ज़रा-सी बात पर ही जैसे तुम गिरी जा रही हो। मन हमेशा सतर रक्खा करते हैं। और बच्चे को कुछ भी नहीं है। थोड़ी भी एतिहात रखोगी, सब ठीक हो जायगा। पानी थोड़ा-थोड़ा दिया करो। कच्चा मत देना, उबालकर देना। और हवा से मत डरना, हवा बड़ी अच्छी चीज़ है। ज्यादे हवा का डर हो, कपड़े पहना दिये। लेकिन जहाँ हवा खूब बहती रहती हो, खुल कर आ जा सकती हो, उल्लू को वहाँ रखना चाहिए। और यह नहीं कि जब चाहे दूध पिला दिया। आजकल इस मामले में भी होशियारी रखनी चाहिए।

और सबसे बड़ी बात तो मन की है। मन हमेशा ठीक रखो, खुश रखो, समझती रहो, बच्चा अच्छा हुआ क्या, अच्छा ही है, करते-करते बच्चा आप अच्छा हो जायगा। सोचोगी, हाय, बीमार है, बीमार है, तो इस दुश्चिन्ता का परिणाम बालक के स्वास्थ्य पर अवश्य पड़ेगा। सब से महत्त्व की यह बात है, समझीं ?"

समझी यह कि कुछ नहीं समझी। और सब एतिहात खूब ही अच्छी तरह से रखेगी। पर मन को बोध सहज नहीं होता। वह तर्क, समझ और यत्न के मुताबिक नहीं चलता। जब वह रोता है तो उसे हँसाकर कैसे दिखाया जाय। उसने कहा, "अच्छी बात है। जैसा कहोगे, करूँगी। और कौन-सा बहुत अफ़सोस करती हूँ। पर किसी को दिखा देते, तो तसल्ली हो जाती। तुम जानो, डाक्टर सब यों ही बे बात के नहीं हो गये। कुछ तो हम-तुमसे ज्यादे जानते ही होंगे। सारी दुनिया बेवकूफ नहीं है, जो उन्हें पूछती है, और लोग हज़ारों खर्च करके और बीसियों साल लगाकर डाक्टर बनते हैं।"

विनोद ने कहा, "यह तो ठीक है, सुनिया, पर तुम जानती नहीं। दुनिया बेवकूफ ही है। मैं अब भी कहता हूँ, डाक्टर का नाम मन में भी मत लेना।"

सुनयना 'तुम जानो' कहकर चुप होकर बैठ गई। विनोद सोते हुए लल्लू के पास पहुँच और बैठकर दो-जेब-भरे नोट्स का निरीक्षण करने लगे।

लेकिन ठीक रात के बारह बजे विनोद झटपट हार गया।

बच्चा रो रहा था, और बड़ा बेचैन था। कन्धे से लगाये हुए, गा-गाकर डोलता-डोलता विनोद अत्यन्त चेष्टा करने पर भी उसे बहला न पाता था। खाँसी ऐसी उठती थी कि विनोद को लगता

जैसे बालक का कलेजा ही खिंचकर निकला चला आ रहा हो। एक साँस में खाँसते-खाँसते मिनट से भी ऊपर हो जाता, और गले का कफ़ साफ़ होकर न देता। एक बार बालक को खाँसते हुए पूरे दो मिनट हो गये; प्राणपण से जोर लगा कर खाँसता था; अँतड़ियाँ जैसे उखड़ी चली आ रही हैं, सिर पटक-पटक कर दे मार रहा है, किकिया रहा है, अपनी छोटी-सी जान का पूरा बल लगा कर खाँसता है; पर क्या अटका है कमबख़्त कहीं कि निकलता नहीं। इस दुस्सह व्यथा को देखती हुई सुनयना पास खड़ी हो रही है, और विनोद का जी जाने कैसा हो रहा है। जैसे सूखे कपड़े की तरह ऐंठा जा रहा हो। पूरे तीन मिनट में, मानो तीन युग में आखिर एक प्रबल खाँसी में वह गले में जमा हुआ पदार्थ कुछ उखड़ कर आया, और, बालक एक क्षीण चिचिआहट छोड़ कर, अवश, श्रांत मृतप्राय होकर कन्धे पर मूर्छित होकर पड़ रहा।

उस समय रात के बारह बजे थे। विनोद ने सुनिया के हाथ में बालक को थमाते हुए कहा, "इसे लेना। मैं अभी डाक्टर सरकार को ले आता हूँ।"

सुनयना ने कहा, "बच्चे को छोड़कर अभी कहाँ जाते हो। दिन होते ही चले जाना।"

यह निरर्थक बात जैसे उसके कानों तक भी नहीं पहुँची। वह चला गया।

उसके बाद शनिवार की रात तक कितने डाक्टर, वैद्य और हकीम आये, गिनती नहीं। कितना रुपया खर्च हुआ, इसकी और भी गिनती नहीं। फ़ीस वाले डाक्टरों आदि को तो मिला ही था, कुछ बिन बुलाये जान-पहचान के लोग आ गये थे या ऐसे लोग औरों को बुला लाये थे, उनको भी पूरा पारिश्रमिक मिला था।

लेकिन बालक की नन्ही-सी जान और नन्हा-सा पेट था। अच्छी हालत में पाव डेढ़ पाव दूध पेट में पहुँचता होगा। अब जो गोलियों और सूखी दवाओं के अलावा सोल्यूशन-मिक्चर और काढ़ों का सेरों की तोल का वज़न उसके पेट में रोजाना पहुँचाया जाने लगा, वह बेचारे से कैसे झिलता ?

बालक की अपार व्यथा का हम क्या ज़िक्र करें ? और क्या माँ-बाप के जी का हाल सुनायें ?

नहीं; तब सुनायेंगे जब किताब लिखने का अवकाश होगा। उस समय आपको भी तैयार हो जाने के लिए कहेंगे।

अभी केवल सार अंश कहेंगे। वह यह कि बालक रात को ठंडा हो गया।

तब रात अँधेरी थी, हवा भी थी, बूँदा-बाँदी भी होने लग गई थी। सर्दी कड़ाके की पड़ रही थी। और उस समय विनोद को फुर्सत कम थी, क्योंकि फ़ीस चुकती कराके बिदा होने के लिए कुछ डाक्टरादि अवशेष थे।

: ८ :

जमना जाकर निबट-निबटा लिया है। अब हँसना चाहता है। आंतरिक वेग से चुपचाप रोती हुई सुनयना से कह आया है— "छिः, रोती हो ? देखो, मैं कहीं रोता हूँ ? वह चाँद मेरा बेटा नहीं था ? पर मैं तो नहीं रोता। रोया-धोया नहीं करते।" इतना कहकर वह वहाँ फिर ठैर न सका। क्योंकि चिल्लाकर अगर यहीं रो पड़ेगा, तो ठीक नहीं होगा। वहाँ से भाग कर आया, और बड़े ज़ोर से दोनों हाथों से ढक कर औंधे मुँह खाट पर गिर पड़ा, और फूट-फूटकर रोने लगा। लेकिन अब बड़ी युक्ति से मन को कर्रा बना कर बैठक में कुर्सी पर चुप बैठा है। चाहता है—हँसूँ।

ऐसी ही अवस्था में आये धनीचन्द। आते ही उन्होंने कहा—"मैं कल से ही सोच रहा था, आज ज़रूर आऊँगा। इतवार के अलावा और कभी फुर्सत मिलती नहीं।"

विनोद ने कहा, "आओ, बैठो।"

धनीचन्द, "तुम आज खुश नहीं मालूम होते।"

विनोद ने हँस-हँसाकर कहा, "वाह, क्यों ?"

धनीचन्द ने कहा, "हाँ, तुम्हारे बच्चे की तबीयत कैसी है। शायद यही वजह है। पर, अच्छी हो गई होगी, मैं आशा करता हूँ।"

विनोद, "तबीयत ?—हाँ, बिल्कुल अच्छी हो गई है।"

धनीचन्द, "हाँ, आजकल मौसम ज़रा ख़राब है। खाँसी अक्सर हो जाती है। ज़रा पर्वाह करो तो हो भी नहीं, हो तो अच्छी हो जाय।"

विनोद 'हाँ' कहकर चुपचाप सुनता रहा। धनीचन्द कहते रहे, "उस रोज़ मैंने सब केस बिलकुल ठीक कर दिये। तुम तो तब से बिलकुल दीखे ही नहीं।"

इसके बाद किस चतुराई से कहाँ क्या सिद्धि प्राप्त की, इसका वर्णन स्वाद के साथ सुनाना उन्होंने आरम्भ किया। मन के ऊपरी तह पर जो उनके आत्मश्लाघा का भाव जमा रहता है वह चुक गया, तब कहा, "वह बच्चा आपका तो बिल्कुल अच्छा हो गया। बड़ा अच्छा हुआ। अब तो कल आओगे अदालत में। देखें, वह कहाँ है ?"

विनोद ने कहा, "आपको ज़रा फुर्सत होगी मेरे साथ बाज़ार चलने की ? लौटकर देखिएगा। ज़रा मुझे मदद दीजिएगा।"

धनीचन्दजी ने पूछा, "क्या लाना है ?"

विनोद ने कहा, "चलिए।"

चलकर एक बड़ी खिलौनों की दुकान पर पहुँचे। धनीचन्द ने कहा, "यहाँ से खिलौने लोगे? यहाँ तो सब विलायती होंगे, और महँगे मिलेंगे। तुम तो, सुनते थे, इनके बड़े विरोधी हो।"

विनोद ने कहा, "अँह। अब बच्चे के लिए क्या विरोध और क्या सिद्धान्त।"

पहले बच्चों की बग्घियाँ देखीं। चालीस से शुरू करके नब्बे रुपये तक की थीं। एक सौ रुपये की भी थी जो अलहदा रखी थी। कोई खास अच्छी हो, ऐसा तो नहीं जान पड़ता था। पर अलहदा विशिष्ट ढंग से रख कर ज्यादे दाम माँगने से उसी चीज़ के ज्यादे दाम भी उठाये जा सकते हैं। लेकिन धनीचन्द इन सब चालों को खूब जानते हैं। उन्होंने ५५) की एक बग्घी का निर्णय दिया, और तर्क से सिद्ध किया कि वही चीज़ ली जा सकनी चाहिए। पर विनोद है अल्हड़, उसने वह सौ वाली ही बिना ज्यादा बात किये, ले ली। फिर लिया एक 'बेबी,' जिसको विनोद ने जेब से फ़ीता निकाल कर नाप कर देख लिया, ठीक २१ इंच पाँच सूत का है। फिर और छोटे-छोटे खिलौने लिये। फिर दुकान वाले से कहा गया कि उस बच्चे को कपड़े-वपड़े पहनाकर खूब अच्छी तरह सजा दिया जाय। उसको गाड़ी में रख दिया जाय। बाकी खिलौनों में कुछ उनके पास ही इधर-उधर डाल दिये जायँ, कुछ ऊपर गाड़ी की छत में बाँध कर लटका दिये जायँ, जिससे कि गाड़ी में लेटे हुए बच्चे को दीखें। इतना करने के बाद गाड़ी उनके घर पहुँचवा दी जाय।

दूकान से निकलकर रास्ते में विनोद ने कहा, "धनीचंदजी, मुझे एक नौकर चाहिए। मैं जवान, खूबसूरत, पढ़ा-लिखा नौकर चाहता हूँ। ऐसे-वैसे हाथ में बच्चा देना ठीक नहीं।"

धनीचंद ने पूछा, "किसके लिए चाहिए? पढ़ा-लिखा ज़रा ज्यादे लेगा, वैसे तो बहुत सस्ते मिल जाते।"

विनोद, "यह गाड़ी ली है न। इसके लिए चाहिए। और इन्ट्रेंस तो होना ही चाहिए। बी० ए० मिले तो और अच्छा।"

धनीचंद, "पैंतीस चालीस से कम में नहीं आयगा।"

विनोद, "अच्छा होना चाहिए।"

धनीचंद ने कोई-न कोई शीघ्र ही खोज देने का वचन दिया।

यह वचन पाने के बाद विनोद फिर कुछ और बात न कर सका। चुपचाप घर पर आने धनीचंद ने कहा, "अच्छा अब मैं जाऊँगा।"

विनोद ने निरपेक्ष भाव से कहा, "अच्छा..."

धनीचंद ने कहा, "लाओ अच्छा, उस बालक को ज़रा बाज़ार की सैर करा लाऊँ?"

विनोद ने कहा, "वह यहाँ है नहीं; गया है।"

धनीचंद ने पूछा, "कहाँ गया है?"

उस समय विनोद से सम्हला नहीं गया। अन्तर को जो अब तक मथ रहा था, वह वेग एकदम से फूट कर बाहर हो गया। वह अकस्मात् विह्वल हो उठा, धनीचंद के गले लगकर रो उठा, "धनी-चंद, वह तो गया, गया। हम सबको छोड़ कर चला गया। न जाने कहाँ चला गया।"

धनीचंद के भी आँसू एकदम कहीं से टूट आकर आँखों से टपाटप इस गले लगे हुए सफल वकील के सिरपर टपक कर उसे भिगोने लगे।

: ६ :

सबेरे सैर को जा रहे हैं। बग्घी को ठेलते जाते हैं। उसमें दूकान से खरीदा हुआ लल्लू खूब अच्छे कपड़े पहिने तकियों-गद्दों पर सो रहा है। बड़ा नफीस एक तौलिया उसे उढ़ाया हुआ है। और बग्घी खूब खिलौनों से सज रही है। उसके पीछे एफ० ए० पास प्रवीण, चुस्त पोशाक में कसा हुआ, बाक़ायदा आ रहा है।

रास्ते में मिले बाबू हेमचन्द्र, बैंक के मैनेजर। कहने लगे, "बाबूजी यह क्या ?"

विनोद ने कहा, "इस तरह कसरत बड़ी अच्छी होती है। लोग यह करते हैं, वह करते हैं। इस तरह मुफ्त में कसरत हो जाती है, यह किसी को पता नहीं।"

मैनेजर बाबू सुनते हुए आगे बढ़ गये।

फिर मिले बाबू बसंतलाल, हैडक्लर्क,...आफ़िस। बोले, "बाबू साहब, यह क्या तमाशा आप रोज़ करते हैं ?

विनोद बोला, "यह तमाशा नहीं है, कसरत का तरीक़ा है। मैं कितना मज़बूत हो गया हूँ, देखिए। यों तो दुनिया तमाशा है।"

इस तरह लोग रास्ते में छेड़-छाड़ करते ही हैं। विनोद भी उसमें भाग ले लेता है। पहले विनोद के इस व्यवहार के सम्बन्ध में लोगों के मन में उत्सुकता थी, सहानुभूति भी। लेकिन यह निकला विनोद का नित्य का नियमित कर्म। तब लोग उस बारे में नितान्त उदासीन और निरपेक्ष होने लगे और जब-तब इस चलित-मस्तिष्क व्यक्ति को छेड़-छाड़ कर कुछ तमाशे का आनन्द उठाने लगे। जब छेड़ लोगों की जरा पैनी हो जाती है, तो विनोद कहता है, "आप लोग ऐसा समझते हैं, जैसे मैं पागल हूँ। मैं पागल थोड़ा ही हूँ। मैं क्या जानता नहीं, पागल क्या होता है।" इतना

सुनने पर लोगों को, मानों जो चाहते थे, वह मिल जाता है, और वह खुश होते हुए चले जाते हैं।

यह तमाशा आप जब चाहे देख सकते हैं। पचास से ऊपर विनोद की आयु पहुँच चुकी है, और वह क्रम उसी नियमित रूप में बराबर जारी है। कोई बालक उसके नहीं हुआ है। प्रवीण के वेतन में खूब तरक्की हो गई है, उसे अब १००) मिलते हैं। बालक के कपड़े हर तीसरे रोज़ धोये जाते हैं। स्वच्छ वायु और स्वच्छ वस्त्र के सम्बन्ध में बाबू जी की कड़ी ताक़ीद है।

आपको यदि इस तमाशे के आदमी का तमाशा देखने का आग्रह हो, और आप हमारे पास आने का अनुग्रह कर सकें, तो साथ ले जाकर आपको यह सब दिखाने में हमें कोई आपत्ति न होगी। आपकी खातिर हम यह कष्ट उठा लेंगे।

दिल्ली में

: १ :

प्रमोद ने इसी साल वकालत शुरू की है और इसी साल ब्याह किया है। अभी छः महीने नहीं हुए कि अदालत की गर्मियों की छुट्टी हो गई। प्रमोद पत्नी-सहित अपनी छुट्टियाँ मनाने चले।

शिमला जाएँगे—रास्ते में दिल्ली भी पड़ गई। तब सोचा दो एक दिन दिल्ली को भी दे दें, कुछ हर्ज नहीं। करुणा ने दिल्ली देखी नहीं है—यह काम भी निबट जायगा।

तो दिल्ली देखी गई—यही सब चीज, और फिर चाँदनी-चौक। चाँदनी-चौक में खूब ही घूमे, और सब बड़े बाज़ार भी देख लिए, पर जी कुछ भरा नहीं। सोचा, यह तो दिल्ली नहीं है, दिल्ली के बाज़ार हैं, जहाँ अमीरी तनकर अपना प्रदर्शन करती-फिरती है, और जहाँ गरीबी अपने को अमीरी बाने में छिपाए शर्माए चलती है। ये तो बाज़ार हैं, जहाँ सजावट होती है, बनावट होती है और जहाँ मोल-तोल होता है। वह जगह तो देखी नहीं, जहाँ अमीरी सड़ती है और गरीबी सिकुड़ी पड़ी रहती है।—वह

गलियाँ, जो सपाट चिकनी नहीं हैं, जो संकरी और टेढ़ी-मेढ़ी हैं, जैसे शरीर की रक्तवाहिनी नसें। वह गलियाँ, जिनमें दिल्ली की वास्तविकता और दिल्ली का अँधेरा निवास करता है।

अगले दिन प्रमोद ने अकेले गलियों में सैर करने की सोची।

सबेरा है। सूरज निकलने में देर है। झुटपुटा चाँदना हो चला है। तभी घर से निकले।

राह में झाड़ू देते मेहतर मिले, और जमना जाते स्नानार्थी। इन स्नानार्थियों में पुरुषों से स्त्रियों की तादाद चौगुनी होगी। स्त्रियों को पुरुषों से पुण्य की चिन्ता भी चौगुनी है।

तब वह एक गली में जाने को मुड़ गए। जहाँ चौरस्ता मिला, वहाँ सबसे तंग रास्ते को पकड़ लिया; जहाँ दो रास्ते मिले, वहीं जो सँकरा था, उस पर चल दिए। इस तरह भीड़-पर-भीड़, मोड़-पर-मोड़ और तब एक गली में पहुँचे। मुश्किल से बराबर-बराबर दो-दो आदमियों के जाने की जगह होगी। दोनों ओर तीन-चार-पाँच मंज़िलों के मकान सटे हुए खड़े हैं, जिन्होंने शर्त लगा रक्खी है, यहाँ न धूप को आने देंगे और न हवा को। इसी गली में चल रहे हैं कि फिर एक मोड़ आया। मुड़े— यह क्या?

जैसी कागज रखने की तारों की लम्बी टोकरी-सी होती है, वैसी-ही एक यहाँ रक्खी है। गुदगुदे गदेले बिछे हैं, नन्हें-नन्हें दो-तीन-चार तकिए इधर उधर रक्खे हैं, और इन सबके बीच में है छोटा-सा बच्चा!

बच्चा बिल्कुल नन्हा-सा है। लाल-लाल कोंपल-सी पलकें हैं, आँखें, दिवले-सी, आस्मान में मानो परमात्मा को पहचान रही हैं, और हाथ और पैर, कैसे रुई से मुलायम, घूम-घूमकर और मचल-मचलकर उस परमात्मा को खेलने को बुला रहे हैं।

प्रमोद झुका—हैं, एक कागज है—सिरा उसका तकिए के नीचे दबा है—लिखा है—"लो, ले लो, भगवान् सब देखता है।" प्रमोद ने बच्चे को लिया, दुबका लिया, टोकरी वहीं छोड़ी और लौट चला।

अभी मुड़कर चला ही कि ये फूल उस पर किसने बरसा दिए? ऊपर देखा—कोई नहीं!

रास्ते में एक सिपाही की शक की निगाह पड़ गई। इनका चलना ही ऐसा था कि शक न हो, तो अचरज है। टोका गया—इन्होंने झिड़कियाँ सुना दीं। उसने धमकी से काम लेना चाहा। इन्होंने सुना अनसुना कर दिया।

तब वह तैश खाता हुआ और को लेने चला। भरोसा था, धमकी के बाद, यह भाग न सकेगा। लेकिन प्रमोद क्यों ठहरता? घर आया।

: २ :

"लो।"

"कहाँ से ले आए?"

"पड़ा मिल गया।"

"नहीं जी! यह सदा ठठोली! कुछ बात हुई?—ठीक बताओ।"

"कहता तो हूँ—पड़ा मिल गया।"

"नहीं—नहीं—नहीं, सच बताओ, किसका है? कैसा अच्छा है! कौन माँ हैं जिसने ऐसा नन्हा-सा बच्चा दे दिया? सच बताओ, किसका है?"

"सीधा परमात्मा के हाथों में से छीनकर लिये आ रहा हूँ—

शायद मौत के हाथों में से। मालूम नहीं किसका है।"

तब प्रमोद ने सब हाल कह सुनाया। करुणा घबड़ाई—

"फिर ?"

"फिर क्या ? इसे पालो।"

"पालूँ ? कौन जाने किसका हो !"

"किसी का भी हो, है तो बच्चा। अभी तो कहती थीं, कैसा अच्छा लगता है।"

"अच्छा लगता है तो ढेढ़-चमार किसी का भी बालक ले लें ?"

"ले भी लें तो फिर क्या होगा ? फिर यह तो किसी का भी नहीं—धरती माता का है।"

मातृत्व किस स्त्री में नहीं है ? पर, इस पर धर्म का और जड़ता का आवरण चढ़ जाता है। करुणा की इन आपत्तियों में से उसका मातृत्व झाँक-झाँककर देख रहा है—कैसा छौना-सा है, कैसा प्यारा ! प्रमोद का कहना जहाँ शिथिल पड़ा, और यह धर्म ज़रा पिघला कि वह झट से बच्चे को छाती से लगाकर सुला लेगी।

बोली, "है तो—लेकिन ......"

लेकिन के बाद तुरन्त कहने को शब्दों की कमी हो गई।

"लेकिन, यह तुम्हारे आसरे आ पड़ा है, करुणा। पालोगी तो जी जायगा, नहीं तो वहीं कहीं फिर छोड़ आना पड़ेगा।"

करुणा पालेगी क्यों नहीं ? जरूर पालेगी। पर प्रमोद की बात ऐसी जल्दी से नहीं मान लेगी।

"कैसे करके पालूँगी ? लोग क्या कहेंगे ?"

"लोग जो भावेगा, कहेंगे। जैसा उनमें शऊर होगा, वैसा ही

कहेंगे। और पालोगी कैसे ? अपना करके पालोगी। यह थोड़े ही कहोगी, दूसरे का है।"

"वाह !"

"वाह क्या ?"

"अभी ब्याह को कितने दिन हुए हैं ?—" करुणा ने कहा, और उसने अपना अँगूठा धरती में गाड़ लिया, ओठ चबा लिए, आँखें झँपा लीं, और एकदम झेंपी भी, और खिझलाई भी, लजाई भी और......और ललचाई भी !

"ओह, सो बात ! कुछ नहीं।"—प्रमोद ने हँसकर कहा।

"लोग......"

"लोग मुझे ही तो कहेंगे, तुम्हें क्या कहेंगे !"

इस पैनी हँसी पर प्रमोद के हाथ को झटका मिला, और कानों को मिला, "चलो-हटो !"

"करुणा, हमें या तुम्हें कुछ कहकर लोग अपने को बहला लें तो इसमें अपना क्या हर्ज ? कहने दो, जो कहें, पर हम तो एक-दूसरे को जानते हैं।"

"मेरा तो मरण हो जायगा।"

"मरण-वरन कुछ नहीं। बड़ा पुण्य होगा। लोग कह-कहकर खुश होंगे। हम भी सुन-सुनकर खुश होंगे। क्यों, होंगे न ? जरूर होंगे। और इस बात पर खुश होंगे कि देखो हमारे कारण इन्हें कैसी खुशी होती है !"

करुणा खुश क्यों नहीं होगी ? जब पति का विश्वास और पति का प्रेम उस पर है, तो किस बात से वह खुश नहीं हो सकती ?

इधर ये बातें चल रही थीं, उधर नीचे आँगन में रधिया माजी से बातें करने में लगी थी।

आते ही बिना भूमिका के रधिया ने कहा, "माजी, मुझ पर बड़ी विपत है। बड़ा कलेस है। कोई नौकरी हो तो—माजी।"

यह सीधे अपरिचित घर में घुसकर नौकरी माँगने की प्रणाली से माजी का पहला परिचय था!

"मेरे यहाँ तो कोई जगह नहीं है।"

"मैं बाहर कहीं चली जाऊँगी। कोई आया-गया हो, जिसे रोटी वाली की या और किसी तरह से काम की ज़रूरत हो—मैं चली जाऊँगी। कोई भी तुम्हारे यहाँ आया गया।"

"कौन आया-गया? फिर कौन तुझे बेबूझे रखेगा?"

"नहीं, माजी, मैं तसदीक दिलवा दूँगी। देखो माजी..."

"एक आया तो है। मेरे लल्लू के साथ का पढ़ने वाला है। कह देखूँगी—उसे।"

"कौन हैं—कौन हैं—माजी। ज़रूर कहना माजी। कहाँ के हैं?"

"कानपुर का है। लड़के के साथ पढ़ा है, वकील है।"

"क्या नाम..."

"नाम तो जानती नहीं..."

"अच्छा माजी, ज़रूर कहना। देखो...। मैं कल आऊँगी।" —कहकर रधिया चली गई।

थोड़ी देर बाद एक लाल साफ़े का लट्ठबन्द सिपाही आ खड़ा हुआ।

"तुम्हारे यहाँ कौन आया है?"

"कोई नहीं..."

"नहीं, ज़रूर कोई आया है..."

"आया है सो?"

"कहाँ से आया, कौन है ?"

"और तू कौन है जो आया है पूछने ?"

"अपने आप बताओगी ।"—धमकी देकर वह चलता बना । तब पति-पत्नी के सम्भाषण में व्यवधान डालकर माजी ने सूचना दी । "लल्लू, तुझे पूछता एक सिपाही आया था । एक महरिया भी नौकरी पूछती आई थी । पता लगता है, वह भी तेरी ही खोज-खबर में थी ।"

"होंगे कोई, माजी । कुछ बात नहीं ।"—बड़े करारेपन से कह-कर वह हँस दिया । माजी चली गईं ।

लेकिन करारेपन से क्या और हँसी से क्या ? क्योंकि तभी उन्होंने आज ही शिमला चल देने की बात सोचनी आरम्भ कर दी । सिपाही और उस स्त्री—दोनों ही की बात ने कुछ हौल-सा जी में पैदा कर दिया ।

"क्या होगा ?"—करुणा ने पूछा ।

"कुछ नहीं—होगा क्या ?"—हँसकर प्रमोद ने जवाब दे दिया । रधिया ने आकर मालकिन को खबर दी—

: ३ :

"कानपुर से आए हैं । कोई वकील हैं..."

"नाम ?...."—नई उमर की मालिकन ने व्यग्रता से पूछा ।

"कहाँ ठहरे हैं ?"

रधिया ने पता बता दिया ।

अगले रोज सबेरे उस मकान पर एक मोटर आ लगी । रधिया मकान में आकर बोली—

"माजी, वह बाबू..."

"वह तो कल ही गया..."

"गये ?—कहाँ ?"

"इससे तुझे क्या ?"

"अजी, मैं गरीबिनी हूँ । चिट्ठी डालकर पूछूँगी—नौकरी । । बुला लिया तो अच्छा ही है ।"

"शिमला गया है । पता नहीं मालूम ।"

तभी नौकर ने खबर दी—

"माजी, बाहर एक मोटर खड़ी है ।"

रधिया सुनकर भाग खड़ी हुई । कोई देखने बाहर गया, उसके हले ही रधिया को लेकर मोटर भाग चुकी थी ।

वह नई उमर की मालकिन, रधिया के साथ, अपने पिता को मनामनू कर शिमला जाने के लिए लाचार करके, शिमला पहुँची । वहाँ ढूँढ़ा, पर कानपुर के वकील को न पा सकी ।

दिल्ली लौट आई, पर उसको चैन न मिल सकी । दिल्ली में वकील के ठहरने की जगह से बहुत-कुछ मालूम करने का प्रयत्न किया गया पर वहाँ से ज्यादा कुछ नहीं बतलाया गया ।

एक रोज सेठ धनबढ़राय को खबर दी गई, उनकी लड़की लापता है । बहुत खोज-छान की, पर उसका पता न चला । तब वह खोज ढीली पड़ गई । लेकिन धनबढ़राय फिर भी भीतर-ही-भीतर ढीले न रहे । उस लड़की ने भागकर उनके नाम पर कीचड़ डाली, सेठजी उसे इसका बदला चुकाएँगे ।

: ४ :

कचहरी खुल गई और कानपुर आकर प्रमोद अपनी वकालत में लगा । ब्याह के आठवें महीने ही जब बहू की गोद में दो महीने

का बच्चा हैं, तो प्रमोद को चैन से कैसे वकालत करने दी जा सकती है? यार-दोस्तों ने चुहलबाज़ी में और रिश्तेदारों ने धीर-गम्भीरता से, दस तरह की दस बातें कहनी शुरू कीं। पर प्रमोद सुनता है और झेल लेता है, और करुणा को आकर सुना देता है। करुणा लजा जाती है। यथा—

प्रमोद ने कहा, "लोग कहते हैं, इस बच्चे के लिए मुझे कुछ मेहनत नहीं करनी पड़ी। उनकी यह बात गलत तो नहीं है।"

करुणा इस पर सिंदूरिया पड़कर हलकी-सी 'सी सी' कर देती है। लेकिन बच्चे पर माँ-बाप दोनों ही खूब लाड़ बरसाते हैं। लोग इस बात को देखकर बड़े अचरज में हैं। बहुत कुढ़ते हैं, पर प्रमोद कह देता है, "तो फिर बच्चे का क्या कुसूर? मान लिया मेरा नहीं है, तो?—बच्चा तो बच्चा ही है।" इस अद्भुत उत्तर के आगे किसी का कुछ वश नहीं चलता, और वे प्रमोद को 'असुधार्य' मूर्ख समझ कर छोड़ देते हैं।

बच्चे का नाम रखा गया है—पृथ्वीचन्द! कैसा धरती पर चाँद सरीखा उगता-खिलता पड़ा मिला था वह! पृथ्वीचन्द चन्द्र-सरीखा ही बढ़ रहा है। करुणा अब उसके लिए नौकरानी की जरूरत समझ रही है। अब उसके कामों में वह अड़चन डालने लगा है।

ऐसे ही वक्त संयोगवश एक फटी-बेहाल औरत आ पहुँची।

"बहूजी, नौकरी कुछ मिल जाय। बड़ा पुन्न होगा। मैं बच्चे को खिला लूँगी—जरा नहीं रोने दूँगी। और रोटी-कपड़े पर पड़ी रहूँगी। और कुछ नहीं चाहिए। बहूजी, मैं बड़ी विपत में हूँ।......बड़ा पुन्न होगा बड़ी असीस दूँगी।"

"सोच तो रही हूँ, मैं एक को रखने की। बच्चा रख लेगी?—है कौन जात?"

"बनैनी हूँ माजी, अग्रवाल। करम का दोष है। बच्चे को खूब रख लूँगी—खूब रख लूँगी—देख लेना तुम माजी।"

"तुझे कोई जानता भी है?"

"जानता तो कौन मुझे माजी! गरीबनी हूँ, विपदा की मारी हूँ। तुम्हारा नेक बिगार हो जाय, मेरा जो चाहे कर लेना। माजी, कुछ हो, ऐसी-वैसी तो हूँ नहीं।"

इसी वक्त भीतर से पृथ्वीचन्द ने चीख मारी। करुणा दौड़ गई—पुकारती मनाती गोदी में उठा लाई।

उस स्त्री की आँखें बच्चे पर से फिर डिग नहीं सकीं। बोली, "कैसा चाँद-सा बच्चा है। कितने का होगा, बहूजी?"

"होगा कोई छः-सात महीने का।"

"देखूँ माजी"—कहकर उसने करुणा के हाथ से बच्चे को ले लिया। लेकर उस पर हँसी, रोई, चूमा, पुचकारा, उछाला, बिठाया और फिर छाती से चिपटाकर आँगन में डोलने लगी, कहती जाती थी—"आ री चिड़िया आ जा री, चन्दा चिड़िया ला जा री।"

करुणा ने देखा, बच्चा मन गया है, और सोता जाता है। और यह स्त्री बड़े प्यार से बच्चे को खिलाती है। पूछा, "तेरा नाम क्या है?"

"नाम—?"

"हाँ।"

"नाम मेरा माजी है......पतिया, पतिया।"

"तो तू रहेगी पतिया?"

"हाँ, रहूँगी, जरूर रहूँगी, माजी। तुम्हारे हाथ जोड़ूँ... मैं

इस बच्चे को खूब अच्छा खिलाऊँगी। देख लेना, माजी। मैं कहीं नहीं जाने की, बिगाड़ करूँ, निकाल देना।"

"अच्छा तो कल आना, मैं उनसे पूँछ लूँगी।"

"मुझे, जी, यहीं पड़ जाने दो। कोई कोना दे देना, पड़ रहूँगी। कल उनसे पूछ लेना।"

"कल आ जाना। सब ठीक हो जायगा। आज तो...।"

"मैं नहीं जाऊँगी। यों ही पड़ी रहूँगी। बच्चे को साथ लेकर पड़ी रहूँगी—तुम्हें दुःख नही पहुँचाऊँगी।"

इस हठपूर्ण अनुनय को करुणा किसी तरकीब से टाल न सकी। बोली—"अच्छा। पर नौकरी कल से ही...।"

"हाँ-हाँ, जब से चाहो"—उसने सहर्ष स्वीकृति से कह दिया। अगले दिन करुणा ने प्रमोद से पूछा। उसने कह दिया—

"क्यों नहीं ? मुझ से पूछने की इसमें क्या बात थी; जरूर रख लो, जरूर रख लो।"

"जान-पूछ तो की नहीं—"

"यही जान-पूछ बहुत है कि बच्चे को प्यार से रख सकती है। लेने को अपने से क्या ले जायगी—एक-आध कपड़ा-लत्ता—बस।"

पतिया उस रोज़ से पृथ्वीचन्द को खिलाने पर, खाने और कपड़े पर, नियुक्त हो गई।

: ५ :

लेकिन देखा गया, पतिया बच्चे को लाड़ करने, पुचकारने, खिलाने और बनाने-संवारने से सन्तुष्ट नहीं है, वह मानो और भी कुछ ज्यादा चाहती है। वह मानो उस पर अपना सम्पूर्ण

आधिपत्य चाहती है, जिसमें किसी का साझा न हो। पृथ्वीचन्द करुणा के पास जाता है, या करुणा जब उसे लेती है, तो मानो यह उसे अच्छा नहीं लगता। जी होता है—इससे छीन लूँ, कह दूँ—नहीं देते। उस करुणा का जो उस बच्चे पर अधिकार है, और खुद पतिया का जो नहीं है—इस पर उसका मन न जाने कैसा अकुलाया-सा रहता है। मन को वह बहुत बोध देती है, पर उसका यह मन जैसे इस मामले में बाग़ी हो जाता है। उसे करुणा का यह अधिकार सह्य नहीं होता। इस अधिकार के ही कारण करुणा का बच्चे पर प्यार करना भी उसे बड़ा कड़वा लगता है। वह मानो उससे बच्चे की रक्षा करना चाहती है। वह बच्चे को करुणा से प्यार पाने का अवसर, भरसक, बहुत कम देती है।

करुणा पतिया के इस स्नेह की अतिशयता से भरे व्यवहार को देखकर और पिघल गई। उसने समझा, पतिया कोई अपना बच्चा खो बैठी है और जब उसकी छाती मातृ-स्नेह और मातृ-दुग्ध से खूब भरी है, तभी वह यह नौकरी करने पर लाचार हुई है, और तभी यह पृथ्वीचन्द उसके सामने आया है। वह इस दुखिया के प्रति सम-स्नेह और करुण-सहानुभूति के भाव से खिंचने लगी। माँ के हृदय ने माँ का हृदय पहचाना; और जो हृदय अपने टुकड़े को खोकर, क्षत-विक्षत हो रहा है, उस हृदय के लिए माता करुणा ने अपने भीतर का करुणा का निसर्ग-स्रोत खोल दिया। वह पृथ्वीचन्द को ज्यादा-से-ज्यादा काल तक उसके पास रहने देने लगी—खुद बहुत कम मिल कर ही सन्तोष मान लेती।

लेकिन पतिया के व्यथित हृदय पर यह सहानुभूति जलन छिड़कने लगी; क्योंकि करुणा का हक़ है—हक़ है! उसका हक़ नहीं है। वह मानो छल से, चोरी से, दूसरे के अनुग्रह पर, इस बच्चे

से प्यार कर पाती है और उस पर करुणा का अधिकार है! यह अधिकार की बात ही करुणा की सहानुभूति को मानो खट्टा बना देती है। उसकी ठंडी सांत्वना मानो और जलन भड़का देती है।

: ६ :

दिन बीतते रहे, और पाँच साल निकल गये। पृथ्वीचन्द अब गुल्ली-डंडे से खेलता है। पतिया को चिढ़ाता और मारता है, करुणा का भी बहुत अदब नहीं करता, सिर्फ़ बाबूजी को डरता है।

लेकिन करुणा उसकी अम्मा है—पतिया-पतिया हैं। फिर भी पतिया उसे खूब चीज़ें देती है, चाहे चुराकर ही क्यों न दे। करुणा ज्यादातर उसे डपटने का काम करती है। वास्तव में बात यह है कि वह पतिया को इसीलिए मार पाता है; क्योंकि उसे वह ज्यादा प्यार करता है।

पतिया अब फटे-टूटे हाल में नहीं रहती, मानो घर का वह अब अंश है। उसकी बात मानी जाती है, और वह अब खर्च के बारे में भी बहुत आज़ाद है। पर पैसे और प्यार के लिए पतिया के पास एक ही मद है—पृथ्वीचन्द।

किन्तु करुणा अब जिम्मेदारी का अनुभव करने लगी है। हमारे बच्चे को यहाँ बैठना चाहिए, वहाँ नहीं। ऐसे रहना चाहिए, वैसे नहीं। उसे ज़िन्दगी में यह बनना है। करुणा उसके भविष्य का चित्र बहुत उज्ज्वल खींचती है। विश्वास है, उसका पृथ्वीचन्द माँ को सुखी करेगा। ऐसे ही चमत्कारपूर्ण भविष्य में विश्वास रखकर, करुणा पृथ्वीचन्द को समय-समय पर उपदेश दिया करती है। एक दिन उससे कहा गया—

"देख पृथ्वी, पतिया के पास ज्यादा मत बैठा कर। अब तू

बच्चा नहीं रह गया है। देखा कर, कहाँ बैठना, कहाँ न बैठना।" करुणा अपने उन भविष्य-स्वप्नों में इतनी आत्मसात् हो गई है कि समझती है, पाँच बरस का लड़का बच्चा नहीं है। अब उसे कौन समझाएगा? समझाने से तो वह न समझती; पर अगर जानती कि उसकी यह बात पतिया सुन रही है, तो वह कभी ऐसा न कहती।

पतिया ने सुना, अपने आप कहा—"हूँ।" कुछ दिनों बाद एक दिन पतिया और पृथ्वीचन्द लापता हो गए।

: ७ :

सेठ धनबढ़राय ने अपनी लड़की को बहुतेरा ढूँढा, और वकील प्रमोदचन्द ने अपने पृथ्वीचन्द को बहुतेरा ढूँढ़ा—पर कोई न मिला। आखिर लड़की को खोए सात साल हो गये थे तब, और लड़के को खोए लगभग दो साल हो गये थे तब, दोनों एक ही क्षण में एक ही जगह मिले। किन्तु एक दुर्घटना हो गई। इस कारण वे दोनों मिले, फिर भी कोई न मिला—मिले तो एक दूसरे से सेठ धनबढ़राय और वकील प्रमोदचन्द मिले और दोनों ने अपना माथा ठोक दिया।

बात यों हुई—

काशी में जबर्दस्त मेला था। दशाश्वमेघ घाट भीड़ से खचा-खच भरा था। मेले में करुणा के साथ प्रमोदचन्द भी गये थे और सेठानी के साथ धनबढ़राय भी। दोनों उस समय गंगा-स्नान को वहाँ आए थे। प्रमोदचन्द ने दशाश्वमेध मन्दिर के दाईं ओर, जरा दूर स्नान किया, सेठ जी ने बाईं ओर। जब स्नान करके ये लोग चले—करुणा और प्रमोद, सेठानी और धनबढ़राय—ऊपर की सीढ़ियों के पास, जहाँ से सड़क दिखने लगती है—उन्होंने देखा एक

गैरिक-वस्त्र-धारिणी तपस्विनी-सी कोई बरस का सात बालक साथ लिए बैठी यात्रियों को खैर मना रही है, और पैसे माँग रही है। उसकी भी आँख उठी,—देखा—ये क्या—कौन ? करुणा और वकील आ रहे हैं ! वह घबड़ाई, उठी, बालक की उँगली पकड़ी। अब दूसरी ओर को भाग जायगी। पीछे को मुड़ी—हाय ! पिता और माता ! वह सब-कुछ भूल गई, मानों विक्षिप्त हो गई हो—खो गई हो।

वह उतरकर सामने को भाग चली—उँगली पकड़े, बालक को साथ खदेड़ती जाती थी। सेठ और वकील ने पीछा किया। लोगों ने भी हल्ला मचाया; पर कोई पास पहुँच न सका, क्योंकि उसने लड़के को गंगा में फेंक दिया—और पल भर में आप भी छलाँग मार गई। बरसात की गंगा जोरों पर थी, कोई बचा न सका। उन दोनों प्राणियों को, यह माँ गंगा ही अपने पेट में आत्मसात् कर गई।

दोनों के चेहरे फक रह गए। वकील ने सेठ से पूछा, "यह आपकी कौन थी ?"

"बेटी।"

सेठ ने वकील से पूछा—"वह आपका कौन था ?"

"बेटा।"

दोनों ने पूरी बात समझ ली और अपना माथा ठोक लिया।

जनता में

जनता एक्सप्रेस, जिसमें तीसरा ही दर्जा है। अप्रैल का महीना है, तीसरे पहर का समय। गाड़ी भरी जा रही है। छत पर लोग हैं और दरवाजे के बाहर भी लटके हुए हैं। हैण्डिल उखड़े तो बीसियों जान से जायँ। और सुनते हैं, ऐसा हुआ भी है। लेकिन ज़िन्दगी का बहाव है जो मौत से रुकना नहीं जानता। लोग जा रहे हैं; क्योंकि जाना जरूरी है। पिच रहे हैं, मर रहे हैं फिर भी जा रहे हैं। क्योंकि कुम्भ है, और जाना आवश्यक है कि जिससे मौत पुण्य में हो।

लीजिये, स्टेशन आनेवाला है। लोग तैयार हो बैठे। डिब्बा बस अब एक था। बलिष्ठ खिड़कियों पर तैनात हो गये। जिधर प्लैटफार्म को आना था उधर योद्धा जमे, शेष दूसरी तरफ आन बैठे।

गाड़ी धीमी हुई और एक दुर्भाग्य का पता चला। वह यह कि चार मुसाफिर उस स्टेशन पर उतरने वाले हैं। कम्बख़्तों को वहीं उतरना था। खैर, फैसला हुआ कि दरवाज़ा न खुलेगा। इन्हें

खिड़कियों की राह ही बाहर किया जायगा और पीछे-पीछे उनकी गठरी-पोटरियों को भी फेंक दिया जायगा।

गाड़ी का रुकना था कि कुछ पता न चला कि क्या हो रहा है। हो-हल्ला वह कि क्या पूछिये। जहाँ-तहाँ चटाख-पटाख और उठा पटक। योद्धा मोर्चे पर थे। लेकिन नीचे प्लेटफार्म पर कम विकट भट न थे। इधर खिड़की से उठा कर एक बुड्ढे देहाती को नीचे सरकाने का प्रयत्न शुरू होता ही था कि देखते-देखते एक आकार दैत्य-सा बृहत् खिड़की में से तीर के मानिन्द टूट कर हमारे सामने सीधा आन खड़ा हुआ है। लोगों के सिरों और सामानों के ऊपर से यह विराटता खिड़की की क्षुद्रता में से किस जादू-मन्तर के जोर से यहाँ आविर्भूत हो पड़ी है—यह समझें-समझें कि उसने पराक्रम दिखाना शुरू कर दिया। कितना विकराल और अद्भुत वह पराक्रम! कैसे वह सब के अवरोधों और प्रतिरोधों को सर्वथा व्यर्थ करके खिड़की के छिद्र में से एक-एक कर अनगिनत बोरे, कनस्तर, ट्रंक खींच कर बाहर से अन्दर करने लगा था। अवकाश अपने में जाने अनन्त होता है क्या। सामान आता गया और समाता गया। देखते-देखते एक अम्बार खड़ा हो गया। डिब्बे के आदमी अब अपनी जान की खैर में जहाँ-तहाँ बचने और सिमटने लगे। वह महाशय प्राणी, धीर और शान्त, अपना कार्य किये जा रहा था। महाप्राण पुरुषों की भाँति हिंसा-अहिंसा-जैसे निष्फल विचार से वह उत्तीर्ण था। चारों ओर से पड़ती हुई गालियों और चोटों के प्रति धीर और उदात्त, मौन और एकान्त, बस वह सामान खींचे जा रहा था। गठरी-पोटलियों के बाद, देखते हैं, एक नई प्रकार की सामग्री ने आना शुरू किया है। इस खिड़की से दूसरी तरफ की खिड़की की खबर लें, ऐसी लम्बी-लम्बी लकड़ी की

पाटियाँ देखते हैं, सब प्रतिरोधों को बेंधती हुई चली-ही-चली आ रही हैं। एक, दो, तीन, चार...छः। मालूम हुआ छह खाटें मय साज-सामान साथ चल रही हैं। बिना खाट के सफर आप ही बताइये, आरामदेह कैसे हो सकता है।

इन्जन ने सीटी दी। चलो अब गाड़ी चलेगी। लोगों की साँस-में-साँस आई। उसी क्षण, उसी खिड़की की अभिसन्धि में से इन्सानियत के कुछ आला नमूनों ने आना शुरू किया। यह एक, वह दो, लीजिये ये तीन। यों नौ अदद इन्सान आकर डब्बे में एकदम मौजूद हो गये। प्लेटफार्म से क्योंकर उचकते थे कि पैर मय और सिर से समतल हो कर चपटी खंजर की नोक के मानिन्द तीर की तेजी से आएँ और आकर अन्दर सरकन्डे से सीधे खड़े हो जाएँ। सच मानिये इस हिकमत को योगाभ्यास की चरम सिद्धि से किसी तरह कम मानने की हिम्मत नहीं होती है।

रेल सरकी। नौ और एक दस। वे दस एक तरफ और बाकी डिब्बा एक तरफ। अब जो दृश्य उपस्थित हुआ है, वर्णन में नहीं आ सकता। सामान हटा, आदमी हटे और उन दसों के लिए और खाट आदि को लेकर जिन्दगी के सब सामान के लिए जगह निकली। असबाब भी बैठा, आदमी भी बैठे। चलिये शांति हुई। कुल हंगामे के बाद योगफल निकाला तो यह निकला कि चार उतरे और दस आये और छः से हमारी जनसंख्या बढ़ी।

पर प्रश्न संख्या का नहीं है। प्रश्न गुण का है। गुणों हजार से बढ़कर एक हो सकता है। और ये दस एक-से-एक बढ़कर थे। कौन थे और क्या थे, अनुमान से जानना मुश्किल होता है। कपड़े के नाम पर आठ तो उनमें काफी अपरिग्रही थे। कन्धों पर बण्डी के नाम पर कुछ था और चीकट-चिथड़े से यथावश्यक अपनी

कमर लपेटे थे। पर दोनों के बदन पर था नफीस चुन्नट किया तंजेब का कुर्ता; अन्दर जाली की बनियान, मखमली काली किनारे की घुटनों तक बँधी धोती, सिर घोट और आँखों में सुरमा। शनैः-शनैः आविष्कृत हुआ कि जगह की हद नहीं है; क्योंकि वह बाहर नहीं, दिल में होती है। यह भी कि गाली-गलौज सामयिक स्वार्थ की भाषा है, सहज भाषा समझौता है। जगह हो गई है, गालियाँ थम गई हैं और यह प्रचार को ठेठ अकिंचन मनुष्यता भी डिब्बे के कुटुम्ब का भाग बन गई है।

एक दो स्टेशन जा न पाये थे कि उनकी ताश की चौकड़ी जम गई। बाकी सुलफे की चिलम घुमाने लगे और आपस में चिकोटियाँ काट तरह-तरह की आवाजें पैदा करके अपना मनोविनोद करने लगे। जिन्दगी का ज्वार किनारे के अभाव में वहीं तरफ-तरफ से उनमें से राह बनाकर फूटा आ रहा था।

उनके उभरे हुए पुट्ठे, कइयों के टूटे और फूले हुए कान, मैले तन पर उससे मैला लिवास, उस्तरे से साफ उघड़ी टाँगें, आँखों में सुरमा और गले में तावीज,—जी नहीं, सब मिला कर मुझको कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। तीसरा दर्जा एक अनुभव है। अनुभव मुझे प्रिय है। लोग म्यूजियम बनाते हैं। बेजान म्यूजियम से यह जो जानदार म्यूजियम है, तीसरा दर्जा, क्या ज्यादा कीमती नहीं है? यहाँ ज्ञान ज्यादा है, वैचित्र्य ज्यादा है। अनुभूति पास हो तो उसका सामान ज्यादा है। लेकिन अच्छाई भी शायद बुरी हो सकती है। मेरा मन अप्रिय विचारों का शिकार हो रहा था। वे लोग जिनके बदन से अधिक वाणी उघड़ी थी, जिन्हें लिहाज नहीं, लज्जा नहीं।...और मैं अपने कोने में सिमटा अंग्रेजी किताब में से तरह-

तरह के सभ्य विचार खींच कर अपनी अरुचि पर चढ़ाने लगा। मुझे खीज हुई, क्षोभ हुआ।

सोचा गांधीजी का तीसरे दर्जे में चलना एकदम सही नहीं था। वह ड्रामा था, आदर्श नहीं था। जी हाँ, आदर्श किसी तरह नहीं हो सकता। आदमी को चढ़ना है, न कि उतरना।

सोचा क्या इन जैसों को समकक्ष मानना होगा, इनके समकक्ष ? अँह, सब थोथा ड्रामावाद है। यह आदर्शवाद भी तो नहीं है। मुझे इस फेर से निकलना चाहिये। पैसा ? पैसा सवाल नहीं है।

कम-खर्ची गुण नहीं है। कम-खर्ची उनके लिए है जिनके पास खरचने को पैसे नहीं हैं।

पैसे हैं तो तीसरे दर्जे में बैठना गुनाह है। कि—

पुस्तक में विराजमान रसेल महोदय की सुधि हुई। केन्द्रित शासन व्यक्ति की सर्जनात्मक उद्भावना को मन्द करने का कारण होता है—यह ठीक है। संस्कृति उस उद्भावना का परिणाम है, ठीक है। प्रतिभा और शासन का विरोध है, ठीक है। मैंने अनुभव किया कि डिब्बे में चाहे असभ्यता हो मेरे हाथ की इस पुस्तक में सभ्यता एकदम सही बनकर बैठी हुई है।

"बाबू जी...बाबू जी !!" देखा सामने की बैंच के मारवाड़ी भाई पानी चाहते हैं। रसेल को औंधा करके अलग रखा, और लालाजी के हाथ से लोटा लिया और सुराही से उसमें पानी डाल कर पेश किया।

बालक माँ की गोद में था। कोई वर्ष भर का होगा। बड़ी विस्मित आँखें। हरी और खुली मुद्रा।

लाला साहब ने लोटा ही उसके मुँह से लगाया। पर वहाँ से मुँह हटाकर बालक ने कहा, "ब्बो !"

"पी ले ! पीता क्यों नहीं ?"

बालक ने सिर हिलाया, हाथ फैलाया और कहा "ब्बो !"

"क्या लेगा ?"

"ब्बो !"

बालक के उंगली के इशारे से मैं अपना दोष समझ गया। मेरी डलिया में बैठी कुछ हरी ककड़ियाँ अवगुण्ठन में से झाँक करके बालक को निमन्त्रण देने लग गई थीं। उसी त्रुटि की ओर उस बालक का ध्यान गया था। लखनऊ की ककड़ियाँ मजनूँ की पसलियाँ नहीं होतीं, लैला की उँगलियाँ होती हैं। अपने दोष-मार्जन में लैला की दो मुलायम उँगलियाँ निकालकर बच्चे की ओर बढ़ाईं और बाकी को फिर पर्दे में चुप बन्द कर दिया।

लालाजी ने कहा, "जी नहीं, जी नहीं।"

लेकिन बच्चे ने विस्मित आँखों से देखा और फिर एक को ऐसी सफाई से उड़ाया कि कब मेरे हाथ से निकल कर वह उसके मुँह में जा पहुँची, मुझे पता ही न लगा। दूसरी ककड़ी वहीं लालाजी की गोद में छोड़ मैंने रसेल महाशय को सीधा किया और उसके बेतार को लिया।

केन्द्रित होते जाने से अधिकार विनाश को रोकता है। समय है कि शासन के विकेन्द्रीकरण की दिशा में अब सोचा जाय। दुनिया की एक हुकूमत अपने आप में ही कोई ऊँची बात नहीं है। देखना होगा कि वह नैतिक है या क्या। नैतिक शासन व्यवस्था में विकेन्द्रित होगा। यदि आधार उसका नैतिक न होगा तो शासन

जाने-अनजाने केन्द्रित और फौजी होता जायगा। यहाँ तक कि डिक्टेटर—

"अबे ओ उल्लू के पट्ठे !"

यह सुना और साथ ही जोर का एक चटाखा।

"ओ बे मरदूद ! चलता है कि नहीं। पत्ता चल !"

दुनिया की हुकूमत में सिर उठाया और देखा कि पार की बेंच पर बैठे एक पहलवान महाशय तरह-तरह के मुँह बना रहे हैं और ताश की बाजी में अपना पत्ता छोड़ने का उन्हें बिल्कुल ध्यान नहीं है।

"अबे ओ ! पागल की दुम। तुझ पे जिन्न तो नहीं चढ़ा है।"

कहने के साथ एक साथी ने उसकी जाँघ पर जोर का थप्पड़ दिया और उसके चिकोटी भरी।

"मर कम्बख्त" हमारे पहलवान ने कहा।" "देख तो—"

कहकर उसने मुँह को ऐसा सिकोड़ा कि थूथनी की शक्ल बन आई। थोड़ी देर मुँह उस हालत में रख कर यकायक उसे इस कदर फाड़ा कि हलक के छेद और ऊपर लटका टेंटुआ दीख आया। कुल मिलाकर मुँह अब एक भिट बन गया। समझ न आया कि यह क्या माजरा है।

कि फिर साथियों का ध्यान बँटा। अब तो ताश की बाजी बिछी-की-बिछी रह गई और सब एकटक से उस बालक की ओर देख उठे जो माँ के कन्धे से लगा उनको निहार रहा था। मैंने देखा कि उनकी आँखें एक अलौकिक विस्मय और तृष्णा से खिल आई हैं। एक आनन्द और उत्कण्ठा से चमक रही हैं।

अब होता क्या है कि वे दस-के-दस आदमी बालक की तरह विह्वल आँखों से देखते और तरह-तरह के मुँह बनाने शुरू करते

हैं। कोई मुँह को तिरछा करता है, कोई गोल। कोई आँख फेरता है तो कोई जीभ को ही बाहर निकाल कर विविध भंगिमा से उसे नचाता है। सब की कोशिश है कि बालक और सब को छोड़ कर उस एक पर रीझे। उसे जितनी खुशी मिले सिर्फ मुझ से मिले। सब के चेहरे विमल आनन्द से खिल आये हैं और दस-के-दसों का मन जैसे उसकी नन्हीं मुट्ठी में बन्द है।

"अबे, हट बे। अपनी शक्ल तो देख, तेरे पास आयगा वह ?"

सुनने वाले ने झट अँगोछा खींच करके अपना मुँह पोंछ डाला। बोला, 'जा बे। वहीं बैठ। ले अब तो मुँह पोंछ लिया।" कहकर उसने मुँह पोंछा, अंटी में से खींच कर दर्पण निकाल कर देखा और फिर बच्चे की तरफ दोनों हाथों को बढ़ाया। बालक ने भी इधर से अनायास बाँह फैला दी।

उस समय क्या हुआ ? वह व्यक्ति उठा ! बेधड़क हाथ बढ़ाकर माँ के कन्धे पर से उसने बालक को खींच लिया। मेरी तरफ बालक की पीठ थी और माता का मुँह, यद्यपि उस पर घूँघट था, मुझ से एकदम अदृश्य न था। मारवाड़ी बन्धु की वह पुत्रवधू रही होंगी। अनजाने मैले, बेडौल हाथ उसके कन्धे पर दबाव देकर गोद में थमे उसके बालक को छीन ले जाते हैं। लेकिन माँ उल्टे कृतज्ञ और प्रसन्न हैं।

मुँह ऊपर करके पहले तो उस आदमी ने बालक को अपनी नाक की नोक पर बिठाना चाहा। ऐसे कि दोनों पैरों के तलुवे उसकी नाक पर ही पूरे पक्के जम जायँ। कुर्ते वाले ने कहा, "अबे देखता नहीं है, गरमी लग रही है, गरमी !" कहकर कुर्ते के पल्ले से वह

बच्चे को हवा करने लगा। एक बोला, "भाई, खिड़की बन्द करो, खिड़की।"

झटपट दोनों तीनों चारों खिड़कियाँ बन्द कर दी गईं। दूसरे ने कहा, "मैं बताऊँ एक बात। यह हमारे किशन जी हैं किशन जी!"

"अबे हट! तुझे कुछ पता भी है। बता, पैर में पैंजनियाँ कहाँ हैं? नहीं रामजी हैं, रामजी।"

"तो क्या हुआ?" उसने कहा, "अगले स्टेशन-पर पैंजनियाँ मिल न जायेंगी। हम तो किशन जी बनायेंगे। और मोर के पंख वहाँ मिलते नहीं हैं, चुनार स्टेशन पर, बस पूरे किशन हो गये कि नहीं?"

"अबे ओ बदमाश, नाक तोड़ेगा क्या? अच्छा किशन जी है जो नाक तोड़ दे रहा है।" कहते हुए पहले आदमी ने बालक को और ऊपर किया और अपने माथे पर बिठा लिया।

रसेल इस वक्त मुझ से छूट गया, कारण, सामने इन्सान मिला हुआ था। बच्चा ऐन मेरी आँखों की सीध में था। दसों की आँखें उस पर थीं। यानी एक मेरी भी। जो बालक को ऊपर करके सिर पर लिये था उसे स्वयं बच्चे को आँखों से देखने की आवश्यकता न थी। अपने समूचेपन से वह तो उसे देख रहा था। देखने में दूरी है। वह उसे पाये हुए थे। अब हो सकता है कि यथार्थ कृष्ण स्थितप्रज्ञ हों अथवा कि न भी हों। लेकिन यह नकली कृष्ण यथार्थ स्थितप्रज्ञ निकले। वह उसी तरह विस्मित थे और न दु:खी न सुखी।

"अबे ओ उल्लू! जो ऊपर से उसने नहला दिया तो—"

"तो उल्लू यह खुद हुआ कि मैं? नहा के भाई मैं तो ठण्डा हो

जाऊँगा। कैसी गर्मी है।" फिर कहा, "किशन महाराज, ऐसा किया तो वह चपत लगेंगे, हाँ कि तेरी माँ भी याद करे, समझे?"

देखा गया कि दूसरे उसके साथी इस बीच बहुत ईर्ष्यालु और बेसबर हो आये हैं। तंजेब के कुर्ते वाले ने रौब से कहा, "ओ बे गावदी ला, अब इधर दे इधर। मेरे पास ताड़ का पंखा है।"

कहने के साथ खड़े होकर उसने उतावली से बच्चे को जैसे छीनकर खींच लिया और बराबर वाले साथी को डपट कर कहा, "क्या आँख फाड़े देखता है? यह नहीं कि सुजनी निकाल कर रखे। अबे वह नई वाली उस ट्रंक में है।"

जब तक सुजनी निकली तंजेबी कुर्ता खड़ा-खड़ा उसे खिलाता रहा। फिर बाकायदा सुजनी बिछ जाने पर कहा, "तो किशनजी, थक गये होंगे, अब लेट जाओ। ला बे पंखा ला।" बालक लेट गया और दसों जने आस-पास घिर कर उसे एकटक निहारने लगे। सब उसे दिखाकर तरह-तरह के मुँह बनाते और आवाजें निकालते थे।

अन्त में बालक ने भी शायद अपना कर्तव्य जानकर मुँह बनाया और आवाज निकालनी शुरू की।

तंजेबी कुर्ते ने उस समय अपना पूरा कौशल लगा दिया। मनाया, फुसलाया, डाटा, धमकाया, हिलाया-डुलाया और अन्त में कहा, "तो जा बे बदमाश। जा वहीं माँ के पास मर। लो जी, लेना।"

किशोरिका कुलवधू ने सुना और पीछे की ओर हाथ बढ़ाकर सीधे उन हाथों से शिशु को ले लिया। धन्यता उस माँ के चेहरे पर लिखी थी। अपनी सन्तान पर बरसते हुए स्नेह को देखकर मन की गदगदता उसके मुख पर छिपाये न छिप रही थी।

उसके बाद से तो वे दस जने थे और एक वह बालक था। मानो उन सबकी जान उस एक में थी। हर स्टेशन पर कुछ-न-कुछ छोटी-मोटी चीज खरीदकर बच्चे को देने में मानों आपस में उन्होंने होड़ लगा रखी थी।

होते-होते कानपुर आ गया और काठ-किवाड़ सहित वे वहाँ उतरने को हुए। तंजेबी भाई ने कहा, "हमारे किशनजी महाराज सो रहे हैं क्या?"

माँ ने घूँघट में से फुसफुसाकर कुछ कहा और शायद चाहा कि बालक जग जाय।

मारवाड़ी बन्धु ने कहा, "हाँ सो रहा है।"

तंजेब ने पुकार कर कहा, "पेड़ा! ओ पेड़े वाले।"

दो पेड़े लेकर मारवाड़ी बन्धु को देते हुए कहा, "यह उन्हें देना और कहना, हम पैंजनियाँ लेकर आयँगे। अभी तो जा रहे हैं। आप कहाँ रहते हैं?"

बन्धु ने मानो फटकार में शब्द फेंकते हुए कहा, "भियाणी।"

"अच्छा तो उसे प्यार करना। बहूरानी, उसे हम सब का बहुत-बहुत प्यार देना।'''

सब की ओर से प्रतिनिधि बनकर उसने यह कहा और वे लोग उतरकर शनैः-शनैः हम से खो गये। सामने से उनके विलीन हो जाने पर मारवाड़ी भाई ने धीमे से मुझ से पूछा, "बाबू जी! ये कौन थे? बड़े गँवार थे।"

मैंने उनकी ओर देखा और चुप रहा।

"बाबू जी, सच कहना, मुसलमान तो नहीं थे?"

अचरज से मैंने पूछा, "क्यों?"

बोले, "तब तो बड़ी बुरी बात हुई बाबू जी। कारण कि मुसलमान का स्पर्श—"

मैंने कहा, "आपको संशय क्यों होता है?"

"उनके सर पै जो चोटी नहीं थी, बाबू। उनके गुन आप नहीं जानते।"

मैंने हँसकर कहा, "वे किशनजी को जो मानते थे।"

बोले, "उससे क्या होता है? पिछान चोटी से होती है।" और एकाएक मुड़ कर क्रोध में कहा, "और तैंने क्यों दिया था री, लल्ला को उनके हाथ में? जाने क्या पराशचित करना पड़े।"

मैंने आश्वासन के लहजे में कहा, "नहीं-मुसलमान नहीं थे।"

बोले, "बाबू तुम नहीं जानते। आजकल हिन्दू मुसलमान सब एक हो रहे हैं। सब किरिस्तान हो रहे हैं।"

दो चिड़िया

साँझ से घटा घिर रही थी। अँधेरा पहले से हो चला। अभी उमस थी, बूँदें नहीं गिर रही थीं। बादल सुन्न, घने काले-काले धरती पर छाये थे। मानों कुछ सोचते खड़े थे।

इसी समय अपने घोंसले से बाहर निकल कर एक चिड़िया डाल पर आ बैठी।

बादल उमड़ रहे थे। चिड़िया उनकी ओर देखती हुई वहीं बैठी रह गई। उसका जी भारी था; पर वह चिचिआ नहीं सकती थी। जैसे बादल भरे खड़े थे, जाने उन्हें बरस पड़ने को किसकी प्रतीक्षा थी, वैसे ही उस चिड़िया का जी भीतर से भर कर पक-सा गया था और जाने उसे चिचिआ उठने के लिए किसकी प्रतीक्षा थी।

कि कुछ बूँदें, टप, आ टपकीं। चिड़िया ने काले बादलों की ओर चोंच खोल दी। नहीं; वह पानी की बूँद नहीं चाहती। वह खुली चोंच की राह से भीतर की एक रुद्ध चीख को बाहर कर

देना चाहती है। वह चिचयाई, फिर मुँह बन्द कर वैसी ही बैठी रह गई।

कि, पानी बरसने लगा। चिड़िया भीगने लगी। बूँदें आतीं, टप चिड़िया के ऊपर टपकतीं। पर चिड़िया वहीं डाल पर बैठी रही। वह बिल्कुल भीग गई, काँपने लगी; पर वह फिर नहीं रोयी चुपचाप वहीं बैठी रही। चैन से सोने के लिये अपने घोंसले में नहीं चली गई।

सब बिसार कर जैसे वह यहाँ बैठी है। उसे याद नहीं, उसका कोई घोंसला भी है। उसे पता नहीं, यदि उसका यहाँ कोई भी, कुछ भी है। क्या उसको यह पता है, कि वह अभी मरी नहीं है, जीती है ?

मेह गिरता रहा, और वह भीगती रही।

* * * *

अब सवेरा पास है। मेंह रुक गया है। तारे खिले थे, वे भी छिप गये हैं। कुछ उनमें अभी छिप-छिप जीते हैं। चिड़िया रात-भर डाल पर बैठी रही है। वह वहीं है। वह घोंसले में नहीं गई। आराम की जैसी उसे सुध नहीं है। वह विपत नहीं चाहती; पर जैसे जानती नहीं, विपत किसे कहते हैं। गुम-सुम डाल पर बैठी है, जैसे और सब कहीं से उसका नाता टूट गया है।

एक दूसरी चिड़िया चहचहाती हुई उसके पास आ बैठी। वह अपने परों को अभी फरफराती थी, अभी फुलाती थी। उसके भीतर का उल्लास उसमें समा नहीं रहा था। वह आकर एक जगह पंजे टेककर बैठ नहीं गई, कुछ देर यहाँ से वहाँ फुदकती रही। फिर दूसरी चिड़िया के पास आकर छोटी-सी अपनी लाल चोंच खोलकर बोली, "माँ !"

माँ ने कहा, "बेटा, तुम अच्छी हो ? रात मेंह बहुत पड़ा था।"

"रात मेंह पड़ा था, अम्मा ? मुझे पता नहीं। मैं तो खूब आराम से सोई...। अम्मा यह क्या है, तुम भीग रही हो !"

"कुछ नहीं, बेटा !...तो तुम आराम से रहीं ! अच्छा है।"

किन्तु बेटी को लगा, जैसे उसे अपने उल्लास पर लाज आनी चाहिए। उसने कहा, "अम्मा !"

अम्मा ने कहा, "बेटा, मैं चाहती हूँ, तुम सुखी रहो...मेरे पीछे तुम सुखी रहना।"

बेटी ने चिचिया कर कहा, "अम्मा, मैं शाम के पास चली गई थी। पहली बार ही गई थी। अब तक मैं तुम्हारे पास ही रही। मैं अब तुम्हें छोड़कर नहीं जाऊँगी...पर, वह मुझे प्यार करता है ! ...अम्मा, मैं अब नहीं जाऊँगी।"

"हाँ, बेटा ! वह तुझे प्यार करता है !—और मैं चाहती हूँ तू सुखी रहे।"

बेटी ने कहा, "अम्मा, मैं तुम्हें छोड़कर अब कभी न जाऊँगी। तुम घोंसले में चलो। कैसी भीग रही हो !"

माँ ने कहा, "बेटा, तुम उसे भी इस घोंसले में ले आना। तुम दोनों यहाँ रहना। मैं तो बहुत रह चुकी हूँ।"

बेटी कातर कण्ठ से चिचियाई, "अम्मा ! अम्मा !"

अम्मा चुप रही। वह कुछ नहीं बोल सकी। चीख भी नहीं सकी।

बेटी नहीं जान सकी, वह अपने उल्लास में अब किस तरह मग्न रहे। और जोर से चीखी, "अम्मा ! अम्मा !"

अम्मा ने कहा; "बेटी मैं जाऊँ—पीछे तुम प्रसन्न रहना।

"अम्मा, कहाँ जाओगी तुम ?"

कुछ तारे झपाझप कर रहे थे। थोड़ी देर में सूरज आजाने वाला था। माँ ने कहा, "बेटा, वह तारा देखती हो ? वह छिपता जा रहा है। मुझे वहीं जाना होगा।"

बेटी ने कहा, "अम्मा !"

"बेटा, तुझे अपने बाप की याद है ? तू छोटी थी—और वह उसी तारे में हैं। और तारा छिप जायगा, तो मैं किसे देखती वहाँ पहुँचूँगी ?"

बेटी ने कहा, "मैं तुम्हारा साथ नहीं छोड़ूँगी, माँ; मैं भी साथ चलूँगी।"

"तू चलेगी, बेटी ? वह बहुत दूर है। और तू क्यों चलेगी ?"

बेटी ने कहा, "मैं चलूँगी—चलूँगी। मैं तुम्हारा साथ नहीं छोड़ूँगी।"

* * *

नदी, वन, खेत, पहाड़—इन सब पर से उड़ती हुई माँ-बेटी उस तारे की टक सीध में चली जा रही थीं। बेटी ने कहा, "अम्मा, ज़रा ठहरो, मैं थक गई हूँ।"

"बेटी, यहाँ कहाँ ठहरोगी ? चली चलो।"

कुछ दूर और आगे चलीं ! बेटी ने कहा, "अम्मा, मैं बड़ी थक गई हूँ। मुझ से और नहीं उड़ा जाता।"

सामने नीचे एक पहाड़ की चोटी पर सूखा पेड़ खड़ा था। माँ ने कहा, "अच्छा बेटा, तुम इस पेड़ की डाल पर ठहर जाओ। मैं जाती हूँ।"

बेटी ने कहा, "नहीं-नहीं, अम्मा ! मैं भी साथ चलूँगी ! तुम ज़रा रुको।"

दोनों सूखे पेड़ की डाल पर बैठ गईं। थोड़ी देर बाद माँ ने कहा, "बेटा चलें?"

बेटी को अपने प्रेम की, अपनी दुनिया की याद भूल नहीं रही थी। उसने कहा, "अम्मा, मुझ से चला जायगा?"

माँ ने कहा, "हाँ, बेटा, तुम सुखी रहो। मुझे अकेली जाने दो।"

बेटी ने कहा, "अम्मा!"

माँ ने सुना, और आशीर्वाद देकर पंख समेटकर वह उड़ चली।

बेटी देखती रही। माँ ओझल नहीं हो गई, तब तक वहीं बैठ रही। फिर उड़ती हुई आकर अपने प्रेमी की गोद में गिर पड़ी। सिसक-सिसककर रोती हुई बोली, "मैं क्या करूँ? क्या करूँ?"

उधर वह ऊँची-ऊँची उड़ती जा रही थी। तारा मन्द पड़ता जाता था। उसी ओर चोंच उठाये वह चली जा रही थी। तारा मन्द होता गया, वह अवश होती गई।

कि उषा जगी। तारा छिपा। और वह मुर्दा होकर धरती पर आ पड़ी।

फद्राई

यह सुनयना जाने कितने बरस की हो जाने पर ठीक-ठीक सुनयना बनेगी ? अभी तो दिनभर नूनी ही बनी रहकर ऊधम मचाती डोलती रहती है। जब दो बरस की थी, मैंने गोद में बिठाकर पूछा "बिट्टी, तेरा नाम क्या है ?"

बिट्टी ने कहा "ऊँ-ई।"

बिट्टी की बुआ ने कहा, "नूनी ! हाँ, बिट्टो, फिर कहना नूनी।"

और बिट्टो ने फिर कहा "ऊँ-ई।"

हम सब हँस पड़े, और उसने झट दोनों हाथ लगाकर मेरी दाढ़ी पकड़ ली। कहा, "जा-ऊँ-ऊँ-ई।"

तब तो यह सब-कुछ ठीक था। पर, जब चार बरस और गुज़र गए हैं, वह छह बरस से भी से भी ऊपर की हो गई है। अब पुराना वह सब-कुछ नहीं निभ सकेगा। उमर आ गई है कि अब अदब सीखे, कहना माने, और शऊर से रहे। और, वह शऊर जानती नहीं। छः बरस की लड़कियाँ दूसरी जमात तक पहुँच जाती हैं, और एक यह है कि माँ का दूध नहीं छोड़ना

चाहती। यों काम में माँ को अँगूठा दिखा कर भाग जाती है। माँ इससे बड़ी असन्तुष्ट है, "एक तो लड़की है, वह यों बिगड़ी जा रही है। बिगड़ जायगी तो फिर कौन सम्भालेगा? उन्हीं के सिर तो सब पड़ेगा। सो, वह भी औरों की तरह फिकर करना छोड़ बैठें, तो कैसे चले। उनकी और सुनन्दा की कहा-सुनी इस बात पर अक्सर हो जाती है।

बिट्टी की बुआ कहती है, "अरी, क्यों उसे धमकाया करती है। आख़िर बच्ची ही तो है।"

वह कहती हैं, "जीजी, बच्ची तो है, पर लाड़ वखत-वखत का होता है। लाड़ क्या मैं करना नहीं जानती? पर, उमर होती है, और काम के वखत का लाड़ बिगाड़ ही करता है। और जीजी, काम से आदमी बनता है, लाड़ से तो कोई बनता नहीं है।"

ऐसे समय नए कपड़ों को मैला बनाकर, नूनी यदि आ पहुँचती, तो अम्मा उसकी कहतीं, "क्यों, फिर खेलने बाहर पहुँच गई थी! अब तू ठीक तरह पढ़ेगी नहीं? अच्छी बात है।"

और उनकी मुद्रा को देखकर नूनी बुआ की गोद के पास सरक जाती और बुआ उसे गोद में दुबका लेती।

उस समय "नहीं जीजी, यह नहीं होगा"—कहतीं, और नूनी को उस गोद में खींचती हुई वह ले जाती। उसे रुलातीं, और फिर अपनी गोद में लेकर, तभी मँगाकर मीठी-मीठी बर्फी खिलातीं।

उनके पेट की कन्या है, पर दुनिया बुरी है। उसने पढ़ना-लिखना जैसी भी चीज अपने बीच में पैदा कर रक्खी है। और उसी दुनिया में मास्टर लोग भी हैं, जो डंडा दिखाकर बच्चों को पढ़ा देंगे और आपसे रुपया लेकर पेट पाल लेंगे। और उसी दुनिया में एक चीज़ है प्रतिष्ठा। और भी इसी तरह की बहुत-सी चीजें

हैं। और फिर है, ब्याह, जिसमें एक सास मिलती है और एक ससुर मिलता है।

वह माँ है, और उसके पेट की कन्या है। पर इस दुनिया को लेकर वह झंझट में पड़ जाती है। तभी नूनी को थप्पड़ मारकर अपनी गोदी से दूर करके कहती हैं, "पढ़ !"

और नूनी रोती है और पढ़ नहीं सकती।

और माँ कहती हैं, "कम्बख्त, पढ़।"

तब लड़की के पढ़ उठने से ही गुजारा होता है। या माँ के जी में आँसू की भाप-सी उठ आने पर भी गुज़ारा हो जाता है। तब वह कहती हैं, "मास्टर जी, इसे तस्वीर वाला सबक पढ़ाना। और मास्टर जी, इसके मन के मुताबिक पढ़ाना।..."

और फिर नूनी की ओर जो देखती हैं, तो और कहती हैं, "अच्छा मास्टर जी, आज छुट्टी सही। जरा कल जल्दी आ जाना।"

माँ तो माँ है, पर लड़की तो सदा लड़की बनी रहेगी नहीं। माँ के मन में यही बात उठकर दर्द दे रही है। आज तो लड़की है; पर एक कल भी तो आ पहुँचने वाला है, जब उसका ब्याह होगा, और लोग पूछेंगे, कितना पढ़ी है, क्या जानती है। तब उनके सामने यह बात किस तरह कहने लायक़ हो सकेगी कि मेरे बड़े दुलार की है, बड़े प्यार से मैंने पाली है। तब तो खोज कर यही कहना होगा कि खूब काम सीखा है, और उस मास्टर से इतना पढ़ी है, और वहाँ से यह पास किया है। उस कल के दिन आने पर चुप नहीं रह जाय; बल्कि बहुत-कुछ उस रोज़ कहने के लिए उसके पास जमा हो—इसी के प्रबन्ध में तो वह है। वह माँ तो है; पर यह भी कैसे भूले कि इसीलिए है कि किसी अजनबी को खोज

कर पाए और उसे अपनी लड़की सौंप डाले। यह ज़िम्मेदारी, वह बहुत कम क्षण भूल पाती है।

मैं लिख रहा था; उन्होंने आकर कहा, "तुम तो देखते नहीं हो, और नूनी यों ही रह जायगी। पढ़ने-लिखने में उसका चित्त नहीं है। और तुम घर से बैरागी बने हो। क्यों नहीं बुलाकर उसे ज़रा कुछ कहते ?"

मैंने कहा, "अभी छः बरस की ही तो है।"

"यों ही बीस बरस की भी हो जायगी।..."

मैंने हँसकर कहा, "यों ही तो बीस बरस की कैसे हो जायगी। चौदह बरस बीच के काट लेगी तब होगी।"

"तुम तो यों ही कहते हो। मैं कहती हूँ, नेक उसका ख्याल भी रख लिया करोगे तो कुछ तुम्हारा बिगड़ नहीं जायगा।"

मैंने कहा, "अच्छी बात है।"

"अच्छी बात नहीं है..."

मैंने कहा, "अच्छा, अच्छी बात नहीं है।"

होते-होते वह सचमुच बिगड़ने-सी लगीं।

मैंने कहा, "तुम उसे नूनी फिर क्यों कहती हो ? नाम तो उसका सुनयना है। नूनी बनकर वह खिलवाड़ नहीं छोड़ सकती। और तुम कहना चाहती उसे नूनी हो, फिर चाहती हो, खेलना छोड़ दे। अर्थात् नूनी रहना छोड़ दे। तुम उसे नूनी रखना छोड़ दो, वह भी आप छोड़ देगी।"

"हाँ, मैं सुनयना नहीं, और कुछ कहूँगी !—तुम्हारी मत कैसी है कि उल्टे मुझे ही कहते हो, यह नहीं कि उसे नेक बुलाकर समझा देते।"

मैंने कहा, "अच्छा, अच्छा, तुम चाहती क्या हो ?"

उन्होंने कहा "मैं पाठशाला तो भेजना नहीं चाहती। अध्यापिका सब ऐसी ही होती हैं, बच्चे का नेक ख्याल नहीं रखतीं। और धमकावें मारें भी, इसका क्या ठीक है। नहीं, बच्चे को मैं आँख-ओझल नहीं करूँगी। पर, एक पढ़ानेवाली और लगा दो। घर-पर पूरे पाँच घण्टे उसे पढ़ाना चाहिए।"

मैंने कहा, "पाँच घण्टे!"

"तुम्हारा बस हो, तुम सारी उमर उसे खेलने दो।"

मैंने कहा, "पाँच घण्टे बहुत होते हैं। एक घण्टा पढ़ लेना बहुत काफी है। यों अभी जरूरी वह भी नहीं है।"

"तुम्हारे लेखे जरूरी कुछ नहीं है। सिर तो मेरे बीतती है।"

मैंने कहा, "अच्छी बात है, एक घण्टा मैं पढ़ा दिया करूँगा।"

तुम पढ़ाकर रखोगे? यह होता तो दिन ही अच्छे न होते।

मैंने कहा "समझो, अब दिन अच्छे आगए। मैं पढ़ाऊँगा।"

"पढ़ाना, कहीं तमाशा करो।"

"जैसे पढ़ाऊँगा पढ़ा दूँगा। यह काम तो मेरे ऊपर रहने दो।"

वह आश्वस्त और प्रसन्न होकर बोलीं, "अच्छी बात है। मैं देख लिया करूँगी।"

और वह चली गई और में अपने काम में लग गया।

पर कुछ ही देर में वह लौट आई, और मेरे सामने के कागजों को सरका देकर मेजके पास खड़ी हो रहीं। जिज्ञासा-भाव से मैं उनकी ओर देखकर रह गया।

बोली, "तुम नाराज़ तो नहीं हो गए? देखो, नाराज़ मत होना। मैं क्या करूँ? मेरा मन कहता है, बिट्टूनको खूब पढ़ाना चाहिए, और खूब अच्छा बनाना चाहिए। इसीसे मैं कहती हूँ।"

मैंने कहा, "ठीक तो है।"

"...मेरे मन बिथा बड़ी होती है। तुम जानो उसका ब्याह भी होगा। इसीसे मैं इतना कहा करती हूँ।"

मैंने कहा, "ठीक तो है।"

और सोचा, लड़की को ब्याह देने के वक्त की व्यथा को इतने साल दूर से खींच लाकर अपने मनमें आज ही प्रत्यक्ष अनुभव कर उठनेवाला स्त्री-माता का हृदय कैसा है ?

* * *

सबेरे-ही सबेरे कोलाहल सुन पड़ा। जान पड़ता है, यह हो-हल्ला फिर नूनी को लेकर ही है। नूनी नहीं होती घर में, तब सब चुप-चाप अपने-अपने में हो रहते हैं, मानों उन्हें अपने काम से और अपने निज से ही मतलब है; एक दूसरे से कुछ मतलब शेष नहीं रह गया। नूनी न हो बीचमें, तो हम दोनों तक को आपस में बात करने के लिए विषय का अभाव-सा लगता है। नूनी को लेकर आपस में बोल लेते हैं, झगड़ लेते हैं, मिल लेते हैं। इस तरह खाली-से हम नहीं रहते। दिन भरे-से-हुए बीत जाते हैं।

सुना, कहा जा रहा है, "तो नहीं पिएगी, तू दूध ?"

"नहीं पीते।"

"नहीं पीती ?"

"हम नहीं पीएँगे !"

"देख लो, जीजी, यह तुम्हारी बेटीजी दूध पीती नहीं हैं।" यह जोर से कहा गया।

और दूर चौके से नूनी की बुआ ने कहा, "दूध पी ले बेटी। कैसी रानी मेरी बेटी है।"

रानी बेटी ने कहा, "हमें रोज-रोज दूध अच्छा नहीं लगता।"

नूनी की माँने कहा, "रोज-रोज खेलना तो बड़ा अच्छा लगता है !"

उन्होंने कहा "मैं पाठशाला तो भेजना नहीं चाहती। अध्यापिका सब ऐसी ही होती हैं, बच्चे का नेक ख्याल नहीं रखतीं। और धमकावें मारें भी, इसका क्या ठीक है। नहीं, बच्चे को मैं आँख-ओझल नहीं करूँगी। पर, एक पढ़ानेवाली और लगा दो। घर-पर पूरे पाँच घण्टे उसे पढ़ाना चाहिए।"

मैंने कहा, "पाँच घण्टे !"

"तुम्हारा बस हो, तुम सारी उमर उसे खेलने दो।"

मैंने कहा, "पाँच घण्टे बहुत होते हैं। एक घण्टा पढ़ लेना बहुत काफी है। यों अभी ज़रूरी वह भी नहीं है।"

"तुम्हारे लेखे जरूरी कुछ नहीं है। सिर तो मेरे बीतती है।"

मैंने कहा, "अच्छी बात है, एक घण्टा मैं पढ़ा दिया करूँगा।"

तुम पढ़ाकर रखोगे ? यह होता तो दिन ही अच्छे न होते।

मैंने कहा "समझो, अब दिन अच्छे आगए। मैं पढ़ाऊँगा।"

"पढ़ाना, कहीं तमाशा करो।"

"जैसे पढ़ाऊँगा पढ़ा दूँगा। यह काम तो मेरे ऊपर रहने दो।"

वह आश्वस्त और प्रसन्न होकर बोलीं, "अच्छी बात है। मैं देख लिया करूँगी।"

और वह चली गई और में अपने काम में लग गया।

पर कुछ ही देर में वह लौट आई, और मेरे सामने के कागजों को सरका देकर मेजके पास खड़ी हो रहीं। जिज्ञासा-भाव से मैं उनकी ओर देखकर रह गया।

बोली, "तुम नाराज़ तो नहीं हो गए ? देखो, नाराज़ मत होना। मैं क्या करूँ ? मेरा मन कहता है, बिट्टनको खूब पढ़ाना चाहिए, और खूब अच्छा बनाना चाहिए। इसीसे मैं कहती हूँ।"

मैंने कहा, "ठीक तो है।"

"...मेरे मन बिथा बड़ी होती है। तुम जानो उसका ब्याह भी होगा। इसीसे मैं इतना कहा करती हूँ।"

मैंने कहा, "ठीक तो है।"

और सोचा, लड़की को ब्याह देने के वक्त की व्यथा को इतने साल दूर से खींच लाकर अपने मनमें आज ही प्रत्यक्ष अनुभव कर उठनेवाला स्त्री-माता का हृदय कैसा है ?

* * *

सबेरे-ही सबेरे कोलाहल सुन पड़ा। जान पड़ता है, यह हो-हल्ला फिर नूनी को लेकर ही है। नूनी नहीं होती घर में, तब सब चुप-चाप अपने-अपने में हो रहते हैं, मानों उन्हें अपने काम से और अपने निज से ही मतलब है; एक दूसरे से कुछ मतलब शेष नहीं रह गया। नूनी न हो बीचमें, तो हम दोनों तक को आपस में बात करने के लिए विषय का अभाव-सा लगता है। नूनी को लेकर आपस में बोल लेते हैं, झगड़ लेते हैं, मिल लेते हैं। इस तरह खाली-से हम नहीं रहते। दिन भरे-से-हुए बीत जाते हैं।

सुना, कहा जा रहा है, "तो नहीं पिएगी, तू दूध ?"

"नहीं पीते।"

"नहीं पीती ?"

"हम नहीं पीएँगे !"

"देख लो, जीजी, यह तुम्हारी बेटीजी दूध पीती नहीं हैं।" यह जोर से कहा गया।

और दूर चौके से नूनी की बुआ ने कहा, "दूध पी ले बेटी। कैसी रानी मेरी बेटी है।"

रानी बेटी ने कहा, "हमें रोज-रोज दूध अच्छा नहीं लगता।"

नूनी की माँने कहा, "रोज़-रोज़ खेलना तो बड़ा अच्छा लगता है !"

बुआ ने चौके से आते हुए कहा, "पीले, बेटी, फिर खेलना।" और अपनी छोटी भौजाई को कहा, "बच्चे को नेक प्यार से कहो, सब मान जायगा।"

"प्यार से नहीं, मैं तो बड़े गुस्से से कहती हूँ? लड़की इसी से तो मुँह चढ़ी है।"

बुआ कहा, "पी, बेटा, पी।"

मैं अपने कमरे में बैठकर यह सुनने लगा। मेरी बहन चली गई, और लड़की ने शायद दूध पीना आरम्भ कर दिया।

इतने में नीचे से पड़ौसी के लड़के हरिया ने आवाज़ दी, "नूनी, ओ नूनी!"

नूनी ने कहा, "आई!"

नूनी की माँ ने कहा, "पहले दूध पी, (और कहा,) "हरी, वह नहीं आयगी।"

हरिया ने ज़ोर से कहा, "नूनी, अरी आई नहीं।"

इतने में मैंने सुना, "बच्चों को कड़ी ताकीद में रखने की उपयोगिता के सम्बन्ध में भाषण आरम्भ हो गया है, जिसमें श्रोतावर्ग में केवल बालकों के पिता लोग ही जान पड़ते हैं। और मेज पर शायद एक बाल-मूर्ति भी है, जिसको भली भाँति डाँट-डपटकर और मार-पीटकर भाषण, सामने-के-सामने, सोदाहरण परिपुष्ट किया जा रहा है।"

मैं समझ गया, नूनी अनुशासन की मर्यादा को, हरिया की बाँसुरी की-सी आवाज पर, तोड़-ताड़कर अपने शिशु-अभिसार को सम्पन्न करने के लिए भाग छूटी है। और मैंने जान लिया, अपने विक्षोभ को खर्च कर डालकर स्वस्थ हो जाने के लिए, विवाद मोल लेने को मेरी पत्नी अब फिर बहन के पास पहुँच गई हैं।

और जो वहाँ होना आरम्भ हो गया, उसकी स्पष्ट ध्वनि भी मेरे कानों पर आकर थप्पड़ों-सी बजने लगी !

मैं उस ओर से उदासीन होकर बाहर छज्जे पर आ गया, और गली देखने लगा।

नीचे देखता हूँ, इस चौबीसों घण्टे चलने वाली पत्थर की गली को तो ये बालक लोग भरा-समन्दर बना बैठे हैं, और इस समन्दर में अकेली खड़ी हुई नूनी नाम की मछली झुककर अपने टखने छूकर, कह रही है, "इत्ता !"

पर, मुझे तो कुछ भी मालूम न था। मछली का नाम नूनी तो नहीं है, गोपीचन्द है। और हरिया के साथ और पाँच-सात जने मिलकर, किनारे खड़े-खड़े कह रहे हैं—

"गोपीचन्दर, भरा समन्दर,

बोल मेरी मच्छी, कित्ता पानी ?......"

और गोपीचन्दर जैसे सुन्दर नाम वाली मीन अब-के घुटनों तक ही झुक सकती है, क्योंकि समुद्र इस बीच घुटनों तक बढ़ आया है, और बतलाती है, "इत्ता !"

समुद्र क्षण-क्षण बढ़ रहा है, और उस मछली के मन की चौकसी भी बढ़ रही है। वह देखो, जो अबके गाकर और चिल्लाकर पूछा गया है, "कित्ता ?" तो वह दोनों हाथों को कटि पर रख कर, एक ठुमकी लगाकर बतला रही है, "इत्ता।" हाय-हाय, देखो उस बेचारी के कटि तक समुद्र का पानी आ गया है। वह सिर तक डूबने को होती जा रही है।

और मुसाफिर भाई, तुम बेखटके इस गली में से निकलते चले जाओ। तुम्हारे लिए रोक-टोक नहीं है। पानी तुम्हें नहीं छुएगा। किनारे खड़े ये जो ऊधम करते हुए लड़के-लड़कियाँ हैं,

सो ये अब शरारत करके समन्दर पर हमला करने वाले हो रहे हैं, और गोपीचन्द्र नाम की अकेली मछली ही अपने राज्य की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध हुई गली के बीच में खड़ी है। मुसाफिर, तुम झट से निकलते हुए चले जाओ, नहीं तो ये लोग समन्दर में घुस पड़ेंगे, तब वह कुछ नहीं जानेगी, एकाध को जरूर पकड़ लेगी, और तब उसे उसी की तरह गोपीचन्द्र नाम की मछली बनकर समन्दर में रहकर पहरा देना होगा।

और उनको भी तो देखो। कैसे उल्लसित बाट देख रहे हैं कि पानी उस समन्दर की रानी के कान तक आया नहीं कि वे हुकूमत की स-धूमधाम अवज्ञा करके समन्दर में घुस पड़ेंगे और ज़ोर-शोर से मल-मलकर नहा डालेंगे।

पर, मत समझो, रानी चौकन्नी नहीं है। उसके राज्य में पैर रखकर देखो तो—। वह एक-एक को ऐसा पकड़ती है कि—हाँ।

सबने पूछा, "मच्छी-मच्छी, कित्ता पानी?"

मच्छी-रानी एकदम अपने दोनों तरफ देखती हुई सतर्क हो रही। वह सबको खूब अच्छी तरह ताड़ रही है—

उसने कान तक हाथ बढ़ाया, कहा, "इत्ता।"

और सब धम्म-धम्म गली के पत्थर कूदकर बदन मलते हुए नहाने लगे। मच्छी रानी हँसती हुई इन चोरों को पकड़ने के लिए दौड़ने लगी।

वह पास आती कि नहाने वाले उछलकर किनारे हो रहते। बेचारी मछली, पानी छोड़, किनारे की खुश्की पर कैसे पैर रख सकती!

पर, सामने को दौड़ने वाली होकर जो एकदम मुड़कर पीछे

लपकी कि एक कुर्ते का छोर मुट्ठी में आ गया। रानी चिल्लाई—"पकड़ लिया" और हँसती हुई हाँफने लगी।

श्री हरिश्चन्द्र इस चोर-कार्य में युक्त पकड़े गए। और पकड़े जाकर वह भी निर्लज्ज हो हँसने लगे।

नौकर ने नूनी का हाथ पकड़कर कहा, "चलो, बहूजी बुलाती हैं।"

नूनी ने हाथ छुटाकर कहा, "नहीं जाते।"

नौकर ने छुटा हुआ हाथ जोर से पकड़ लिया।

वह मचल पड़ी, "हम नहीं जायँगे, नहीं जायँगे!"

खेल भङ्ग हो गया।

मैंने ऊपर से कहा, "छोड़ दो।"

नौकर छोड़कर चला गया।

मैं अपनी मेज पर आ गया।

"खेल फिर अवश्य आरम्भ हो गया होगा।"

बहूजी ने पूछा, "कहाँ है?"

नौकर ने कहा, "आती नहीं"—

बहूजी ने कहा, "इसलिए तुझे भेजा था? कहे, आती नहीं?"

नौकर, "बाबूजी ने मना कर दिया।"

"कौन बाबूजी?"

नौकर की कुछ आवाज न आई।

"बाबूजी कौन होते हैं!—तुझसे मैंने कहा था या और किसी ने कहा था?—चल, ला उसे।"

नौकर बाहर आया, और मैंने छज्जे पर पहुँचकर फिर कह दिया, "रहने दो, छोड़ दो।"

लड़की सहमी, और फिर खेलने लगी।

नौकर ने मेरी ओर देखा—"बाबूजी!"—

मैंने कहा, "तुम जाओ, कुछ बात नहीं है"

नौकर लौटकर आ गया। उसकी बात बहूजी ने चुपचाप सुन ली। कुछ भी उन्होंने नहीं कहा। उन्हीं कपड़ों बाहर आईं, रोती-पीटती नूनी को खचेड़ती ले चलीं।

भीतर आकर बोलीं, "तेरे बाबूजी अब आकर रोकें न मुझको।"

मैंने सुन लिया और मैं कमरे से निकलकर उनके सामने नहीं जा पहुँच सका। नूनी को एक कोठरी में मूँद दिया गया।

* * *

मूँद तो दिया गया, पर मुँदा रहने दिया जाता कैसे? क्योंकि माँने बेटी को मूँदा था। और क्या मैं जानता नहीं कि इस बीच वह माँ रो भी ली खूब? बहुत था, जी बह जाना था। लेकिन मैंने खाना न खाया, और शाम को भी न खाया।

वह क्या गजब किया मैंने?

क्योंकि जब मैंने कहा, "मैंने लड़की का एक घण्टा पढ़ाने को लिया है। मेरी यही पढ़ाई है। अब तुम इसमें दखल देने नहीं पाओगी। तब उसने आसुओं से सब-कुछ, सब-कुछ, स्वीकार कर लिया।"

पर चौथे रोज वह मायके चल दीं।

* * *

वह आ गई हैं, और मेरी बात सब झूठ मान लेती हैं।

पर हाल वही है। क्योंकि लड़की को पढ़ना है और पिटकर

दुबली होगी, तो डाक्टर हैं, और डाक्टर के लिए पैसा है,—पर, लड़की को पढ़ना है।

मैं कहता हूँ, "अच्छा बाबा।"

और अकेले मैं नूनी से मच्छी-मच्छी खेलना चाहता हूँ। और नूनी खेलती नहीं, मुझसे किताब के माने पूछती है।

राज-पथिक

भोजन की थाली पर बैठे छोटे राजकुमार ने पूछा, "माँ, वह महल लाल पन्नों का है न ?"

रानी ने कहा, "कौन-सा महल, बेटा ? यह तुम कुछ खा नहीं रहे हो, खाओ।"

राजकुमार ने कहा, "माँ, सात समन्दर-पार जो नीलम के देश की छोटी-सी रानी हैं, उनका महल लाल पन्नों का तो है न ?"

माँ ने कहा, "हाँ, बेटा, लाल पन्ने का है, और उसमें हीरे भी लगे हैं। और उस महल का फर्श—पर वह तो कहानी रात को होगी। अब तुम खाना खाओ।"

बालक चुपचाप खाना खाने लगा। वह सोचने लगा कि नीलम देश की राजकन्या उस बड़े महल में अकेली रहती है। कोई साथी-संगी पास नहीं है। कहानी का प्रतापी राजकुमार जब तक उसके पास नहीं पहुँचेगा, तब तक वह बेचारी अकेली ही रहेगी। वह बाट ही देखती रहेगी। नीलम के द्वीप में उस राजकन्या का महल लाल-पन्नों का है। और उसमें हीरे भी लगे हैं और फर्श—

राजकन्या बहुत छोटी-सी है। दूध-सी सफेद है और...

राजकुमार का जी उस राजकन्या के चारों ओर घूम रहा है। वह खाने में नहीं है। उसने सोचा, राजकन्या अकेली क्यों है? और वह प्रतापी राजकुमार जाने कितनी देर में सात समन्दरों को पार करके वहाँ पहुँचेंगे—

माँ ने कहा, "कौन रानी बेटा?—हाँ, वह नीलम के देश की रानी है। वह बेचारी तो सहस्रों वर्षों से अकेली ही है। प्रतापी राजकुमार जब वहाँ पहुँचेगा तब उसका उद्धार होगा और उस दिन उस नीलम के देश में दूध की वर्षा होगी।"

बालक ने कहा, "माँ, वह राजकुमार कब पहुँचेगा?"

माँ ने कहा, "बेटा, खाना खाओ। कहानी रात को होगी।"

राजकुमार चुप हो खाना खाने लगा। उसने सोचा कि कहानी तो रात को हो जायगी, पर राजकन्या तो अकेली है। वह प्रतापी राजकुमार वहाँ जाने कब पहुँचेगा? क्योंकि, जो सात समंदर बीच में हैं, वे बहुत बड़े-बड़े हैं। ऐसे क्या बहुत ही बड़े हैं? उन्हें तैरकर पार नहीं किया जा सकता? और वह राजकन्या अपने महल की सीढ़ियों पर बैठी पानी की परियों से कैसे बात करती होगी?

चुपचाप खाते-खाते सहसा बालक ने पूछा, "माँ, वह रानी क्या खाती हैं?"

माँ ने कहा, "क्या खाती है! समुन्दर के नीचे से पानी की परियाँ सीप के पात्रों में तरह-तरह के फल-फूल लाती हैं। फूलों को वह सूँघ लेती है, फलों का रस ले लेती है। और वहाँ की हवा स्वच्छ दूध की-सी है। उसको पीती है।"

बालक ने कुछ विस्मित होकर कहा, "नहीं माँ, हवा नहीं पीतीं।"

"तो क्या पीती है ?"

"हवा नहीं पीतीं।"

"बेटा, तो वहाँ गौ का दूध थोड़े ही होता है !"

"तो हवा ही पीती हैं।"

"और नहीं तो क्या !"

"अच्छा-आ !"

बालक को यह सूचना बड़ी अद्भुत मालूम हुई। उसने सोचा कि जब रात चाँदनी होगी, और वह अकेला होगा, तब देखेगा हवा कैसे पी जा सकती है ? उसने उत्साह के साथ पूछा, "माँ ! वह कपड़े कैसे पहनती हैं ?"

माँ ने कहा, "बेटा, खाना खाओ।"

बालक खाना तो खाने लगा, लेकिन नीलम के देश की रानी कपड़े कैसे पहनती हैं, यह उसकी समझ में नहीं आया। दो-चार कौर खाकर उसने फिर पूछा, "नहीं अम्मा, नीलम देश की रानी कपड़े कैसे पहनती हैं ?"

माँ ने कहा, "तुझे बताया तो था कि कपड़े कैसे पहनती है। रतन के जड़े कपड़े पहनती है। और सोने के तार के वे बुने होते हैं।"

बालक ने निश्चयपूर्वक कहा, "नहीं।"

राजपुत्र को सन्देह होने लगा है कि माँ को सब बातें ठीक अच्छी तरह से पता नहीं हैं। वह क्या जानता नहीं कि रतन पत्थर होते हैं, और सोना भारी होता है। यह बिल्कुल झूठ बात है कि नीलम देश की रानी जब हवा पीती हैं तब रतन-जड़े वसन पहनती हैं। पीती तो जरूर हवा ही होंगी, पर पहन रतन नहीं सकतीं। इसी से उसने निश्चयपूर्वक कहा, "नहीं।"

माँ ने कहा, "क्यों, भला ?"

कुमार ने कहा, "रतन तो पत्थर होता है।"

माँ ने कहा, "तो फिर क्या पहनती हैं ?"

"तुम बताओ, क्या पहनती हैं !"

माँ ने कहा, "मैं तो समझती हूँ, कि तब वह कुछ भी नहीं पहनती।"

"नंगी रहती हैं ?"

"हाँ, नंगी ही रहती है।"

वह बात राजकुमार को एकदम बहुत बुरी लगी। उसने एक साथ ही सामने से थाली सरका कर कहा, "झूठ, झूठ !"

"माँ ने कहा, "बेटा, खाना खाओ। रात को बातें होंगी कि वह क्या पहनती है ?"

किन्तु बालक के मन को यह रानी के कुछ भी न पहनने की बात तो एकदम अस्वीकार्य ही जान पड़ती है। नहीं, नहीं, कभी ऐसा नहीं हो सकता। उसे अपने नीलम देश की रानी की यह बड़ी भारी अवज्ञा मालूम होती है। छिः छिः, माँ इतना भी नहीं जानती कि ऐसा कभी नहीं हो सकता।

उसने कहा, "नहीं, मुझे भूख नहीं है।"

माँ ने कहा, "खाओ, बेटा, अभी तुमने खाया क्या है।"

बालक ने गुस्से में भर कहा, "मैं नहीं खाऊँगा। रानी नंगी नहीं रहती हैं, तुमने क्यों कहा ?"

माँ ने हँसकर कहा, "हाँ, हाँ मुझे याद आ गई। वह सपने के कपड़े पहनती है। मैं भूल गई थी। और वह चाँदनी—से बारीक होते हैं।"

बालक ने बहुत सोच-विचार में पड़कर पूछा, "सपने के कपड़े कैसे होते हैं, माँ ?"

माँ ने कहा, "तुम खाना खाओ, मैं बताती हूँ।"

बालक ने थाली पास सरका लेकर कहा, "बताओ।"

बालक ने खाना शुरू किया, माँ ने बताना शुरू किया। बताया कि सपने के कपड़े बड़े महीन होते हैं। शबनम जानते हो ? उससे भी महीन होते हैं। मकड़ी का जाला देखा है ? उससे भी महीन होते हैं। वैसे ही कपड़े वह नीलम के देश की रानी पहनती है।

बालक ने विस्मय से कहा, "अच्छा-आ !"

* * *

उस नीलम के द्वीप में जो सूने महलों में सहस्रों बरसों से अकेली, छोटी-सी, राजकन्या रहती है, उस द्वीप की रानी है; और आदि से प्रतापी राजकुमार के आने की प्रतीक्षा में अकेलापन काट रही है। बचपन से कल्पना उसी के चारों ओर अपना बसेरा बनाती रही है। राजकुमार के छः भाई और हैं। वह सब से छोटा है। राज-काज में उसकी आवश्यकता नहीं है; और वह माँ के प्यार की छाँह में क्षत्रिय की भाँति नहीं, फूल की भाँति बढ़ रहा है। बढ़कर वह बड़ा हो रहा है। उसकी कल्पना अब पहले जैसी कच्ची नहीं है। पर कल्पना तो सदा कल्पना ही है। जितनी अधिक अवास्तवता को वह अपना सके उतनी ही तो वह बलिष्ठ होती है। वय के साथ राजकुमार की कल्पना का कर्तृत्व भी बढ़ता गया है। जो राजकन्या नीलम के देश के महलों में अकेली है, वही धीरे-धीरे उसके जीवन में मानों अर्थ पकड़ती जा रही है। जैसे उसको लेकर यथार्थ ही उसे अपने भीतर अभाव अनुभव हो आने लगा है। प्रतापी राजकुमार क्या सात समन्दरों को पार न

करेगा ? क्या वह यहीं उनसे घिर कर बन्द रहेगा ? और वह नीलम देश की राजकन्या अकेली ही रहेगी? बीच में समन्दर सात हैं, और वे एक-से-एक दुर्लंघ्य हैं, तभी तो प्रतापी राजकुमार को उन्हें पार करना है। क्या अनन्त क्षीरोदधि के बीच में सूने पड़े हुए महलों में कोई राजकुमार प्रतापी बन कर उसका अकेलापन हरन करने न पहुँचेगा ?

किन्तु कहाँ है वह नीलम का देश ? कौन है उसका दिशा-दर्शक ? 'यह नहीं है' 'यह नहीं है'—यह ध्वनि तो युवक राजकुमार के हृदय में स्पष्ट सुन पड़ती है। पर कहाँ है, इसका तो भीतर से कोई निर्देश ही नहीं प्राप्त होता। वह प्रतापी राजकुमार कब उस एकाकिनी के पास पहुँचेगा ?...सब छोड़ चल देना होगा। समन्दर सात हैं और जीवन थोड़ा है। समन्दरों की विकटता भी तो गहन है। सब छोड़ चल देना होगा, क्योंकि वह अनूढ़ा रानी प्रतीक्षा में है। राह में कहाँ रुकना है, क्योंकि नीलम प्रदेश की राजकन्या अकेली है। अनन्त क्षीरोदधि के वक्ष में, सूने महलों में वह अकेली है।

* * * *

अब राजकुमार राजेश्वर है। विधि देखो कि छहों उसके भाई राजलिप्सा में मर-कट गए हैं। राजा बनने को रह गया है यह, जो हृदय में स्वप्न को पोसता रहा है, और जो दीन भी रहने दिया जाता तो क्या बुरा था।

किन्तु, वह राजेश्वर है। चारों ओर वैभव है। अभाव वहाँ कहाँ है ? सब हैं, जो उसके आदेश की प्रतीक्षा में हैं। कब राजेश्वर की इच्छा हो और वे उसकी राह में बिछ जावें। अप्सराओं-सी सुन्दरी सात उसकी रानियाँ हैं। उन सबके लिए वही पति है।

चारों ओर राज्य के काम हैं, जिन सबका वही अधिनायक है। इन सब में अपने को दान करने से वह चूका नहीं है। कर्मठ शासक है, वत्सल प्रतिपालक, प्रेमी पति। सद्यः वह पिता भी हुआ है, और बड़ा स्नेही पिता है।

किन्तु सात-समन्दर पार नीलम देश की वह राजकन्या क्या प्रतीक्षा में अकेली नहीं है? बीच में समन्दर सात हैं, क्या इसी से वह अकेली रहेगी? क्या इसी से राजकुमार प्रतापी होने से रह जायगा? क्या समन्दरों के इस ओर ही वह भरमा रहेगा? अरे कौन है वह राजकुमार जो सातों समन्दरों के ऊपर से पार होकर आने वाली नीलम देश की अनूढ़ा राजकन्या की प्रतीक्षा की मूक वाणी को सुनेगा? सुनेगा, और चल पड़ेगा लाँघने वह सातों समन्दरों को? अरे, वह प्रतापी राजकुमार कौन है? क्या वह अभी जन्मा है?

राजनिष्ठ राजेश्वर के मन में अहर्निशि उठता रहता है—"वह कौन है? वह कौन है? क्या वह अभी नहीं जन्मा है?" अपने राज-काज, राज-वैभव और राजरानियों के बीच में भी उसमें उठता रहता है—"वह कौन है? वह कौन है?" वह मानों स्वप्न में सब-कुछ करता है, जैसे परदेश में हो, किसी मायापुरी में हो। पूछता रहता है—"क्या वह प्रतापी राजकुमार अभी नहीं जन्मा है?"

अरे, समन्दर क्या अनुल्लंघनीय ही रहेंगे और नीलम की वह राजकन्या अनूढ़ा? और क्या प्रतापी राजकुमार यहाँ ही भरमा रहेगा? अरे जब कि समन्दर गरज रहे हैं, और उनके पार राज-कन्या अपने प्रतापी वीर की राह देख रही है, तब क्या वह यहीं सफ़ेद दीवारों से घिरे महल, नियमों से घिरे राज्य, विलास से घिरे जीवन और ममता से घिरे पुत्र-कलत्रों में ही घिरा रहेगा?

वह चल न पड़ेगा, उन समन्दरों को पार करने के लिए जो उसके अनन्त प्रतीक्षा-मग्न उस एकाकिनी राजकन्या के बीच में दुर्धर्ष होकर गरजते हुए लहरा रहे हैं ? अरे कैसा वह प्रतापी वीर है ?

* * * *

और एक रात, जब कि चाँदनी छिटक रही थी, रात आधी से अधिक बीत गई थी, सब सोए पड़े थे। वाम पार्श्व में स्वच्छ शय्या पर शिशु राजकुमार को छाती में लेकर पटरानी स्वप्न-मग्न थी, तब राजेश्वर समस्त आभरण उतार, सब छोड़, निरीह पथ-यात्री बनकर, चुपचाप चल पड़ा। चल पड़ा, कि उन सातों समन्दरों को पाएगा और पार करेगा।

वे कहाँ हैं ? पर वह महल छोड़कर चला जा रहा है दूर, और दूर। वह चलता ही चला जायगा; जहाँ कहीं होंगे, उन समन्दरों को पाएगा और पार करेगा।

वह राजेश्वर चला जा रहा है अकेला, अनन्त-पथ-यात्री, कि नीलम देश की राजकन्या मुस्कराए कि उसका प्रतापी राजकुमार आया है !

अपना-पराया

तब की बात कहते हैं, जब रेल नहीं थी और घोड़ा ही सबसे तेज सवारी थी।

एक मुसाफ़िर सिपाहियाना पोशाक में सड़क के किनारे की एक सराय पर घोड़े से उतरा। उसने घोड़े को थपथपाया और अन्दर दाखिल हुआ। वह बहुत दूर-से आ रहा था और खूब थका हुआ था। वह चौबीस घण्टे यहाँ रहेगा और चला जायगा। उसे अभी दूर की मंजिल तय करना है।

सराय में पहुँचकर उसने घोड़ा सराय वाले के हाथ में थमाया और चाहा, घोड़े के खाने वगैरह का ठीक बन्दोबस्त हो जाय और उसके लिए एक आरामदेह कमरे का फ़ौरन इन्तज़ाम किया जाय। पैसा फ़िक्र करने की चीज़ नहीं है, लेकिन उसे आराम चाहिए।

घोड़े की व्यवस्था कर दी गई। उसके आराम और कमरे की व्यवस्था कर दी गई। उसने खाना खाया और पलंग पर लेट गया।

नींद उसे जल्दी आ गई और सपने में वह घर की बातें देखने लगा।... उसकी पत्नी जो पाँच साल से विधवा की भाँति रह

रही है, उसके पहुँचने पर काम-धाम में बहुत व्यस्त है, प्रेम-सम्भाषण के लिए तनिक भी अवकाश नहीं निकाल पाती। वह मानों उससे बची-बची काम कर रही है। वह नहीं बताना चाहता कि दो हज़ार रुपया उसकी कमर से बन्धा है—दो हज़ार! वह समझना चाहता है और अपनी आँखों के आगे (कल्पना द्वारा) देख लेना चाहता है, किस प्रकार मेरे पीछे इसने दिन काटे ? विपदा में इस बेचारी का साथ देने के समय वह और कहीं क्यों भटकता रहा ? बे-पैसे, बे-आदमी, कैसे यह अपना काम चलाती रही होगी ?—और साढ़े चार बरस का यह करनसिंह, ओह ! विना किसी की मदद के दुनिया में कैसे आ पहुँचा होगा ? वह अपनी पत्नी की सूरत बार-बार देखना चाहता है, लेकिन वह मौका नहीं लगने देती !... यही करनसींग है ? अरे, यह तो बड़ा हो गया ! बिलकुल अपनी माँ पर है। हाँ, करनसींग ही तो है। क्यों जी, आपका नाम करनसींग ही है ? हम कौन हैं, बताइएगा ? अपने बाप को जानते हैं ? वह लड़ाई पर गया हुआ है। मैं उसी के पास से आ रहा हूँ। वह आपको बहुत प्यार करता है। यह कहकर दोनों हाथ बढ़ाकर उसने बेटे को अपनी गोद में लेना चाहा।

तभी उसकी आँख खुल गई और उसने देखा, घर की मंजिल अभी दूर पड़ी है और वह अभी सराय के अजनबी कमरे में है। उसने माथा पोंछा और कमर में बन्धी रुपयों की न्यौली सम्हाली। समय उसको भारी लगता था। उसने बातचीत के लिए सराय-वाले को बुलाया और मालूम होने पर भी दुबारा मालूम किया कि पूरे दो रोज की मंजिल अभी और है। इधर के हाल-चाल मालूम किये और अपनी फौज की बहुत-सी बातें बताईं। उसने उस जिन्दगी का स्वाद बताया जहाँ हर घड़ी मौत का अन्देशा है और जहाँ से

बाल-बच्चे सैकड़ों कोसों दूर हैं, और छन बीतते अनन्त दूर हो सकते हैं। है तो वह स्वाद, लेकिन बड़ा कड़वा स्वाद है। बताया कि किस भाँति हम मारते हैं और किस भाँति हम मरते हैं। उसने कहा कि मेरी समझ में नहीं आता, कैसे अपने सगे लोगों के खयाल से बचकर मरा जा सकता है। मरना कभी खुशी की बात नहीं हो सकती। और यह अचरज है कि क्यों जिन्हें हम मारते हैं, उनके बारे में यह नहीं सोचते कि मरना उनके लिए भी वैसा ही मुश्किल है। हम मारकर खुश क्यों होते हैं? लेकिन फ़ौज में यही बात है कि जिस मारने से हम मामूली ज़िन्दगी में डरते हैं, उसी मारने का नाम वहाँ बहादुरी हो जाता है। वहाँ आदमी जितने ज्यादा को मारता है, उतना ही अपने को कामयाब समझता है, और लोग इसके लिए उसे इनाम और प्रतिष्ठा देते हैं। बोला—

"मुझे इसमें खुशी नहीं मिली। पर जब लोग तारीफ करते थे; तब जरूर खुशी होती थी। और, आपस में जो एक होड़-का-सा भाव रहता था कि देखें, कौन ज्यादा दुश्मनों को मारता है, उस होड़ में जीतने की खुशी को भी खुशी कहा जा सकता है। असली मारने में तो दरअसल किसी तरह का स्वाद है नहीं।... और दुश्मन? मुझे नहीं मालूम, वे मेरे दुश्मन क्यों थे? जिन्हें मैंने मारा, मेरा उन्हों क्या बिगाड़ा था? दुश्मन तो दुश्मन, मैं उन्हें जानता भी नहीं था। अब भी यह सोचने की बात मालूम होती है कि फिर वह क्यों तलवार खोलकर मेरी गर्दन काटने सीधा मेरी तरफ़ बढ़ा चला आता था और क्यों मैंने उसे अपनी तलवार की धार उतार दिया, जब कि हममें कोई तकरार न थी। कहीं-न-कहीं इस मामले में कुछ काला मालूम होता है। देखो, तुम हो, मैं हूँ। तुम-हम दोनों पहले कभी नहीं मिले,

फिर भी बैठे बात कर रहे हैं, और एक दूसरे को कोई मारने नहीं आ रहा है; बल्कि एक दूसरे के काम ही आ रहे हैं। तुम कहोगे, इस बात की हमें नौकरी मिलती है। लेकिन, नौकरी मिलने से इतना हो सकता है कि हम मार दिया करें, उसमें एक जीत का और खुशी का और अपने फ़र्ज अदा करने का ख़याल जो आ जाता है? वह कहाँ से आता है? सवाल है कि वह कहाँ से आता है? इसलिए कहीं कुछ भेद की बात जरूर है। कहीं कुछ फ़रेब है, कुछ ऐयारी।... मेरा मन तो दो-तीन साल फ़ौज में रहकर पक-सा गया है। अपने स्त्री-बच्चों के बीच में रहें, जमीन में से कुछ उगाएँ, हाथ के जोर से चीजों में कुछ अदल-बदल करें और थोड़े में सुख-चैन-से रहें, तो क्या हरज है? मैं तो कभी से वहाँ से आने की सोचता था। करते-करते अब आना मिला है।"

सुनने वाला "हाँ-हूँ" करता हुआ सुन रहा था। वह जानता था, इस तरह चुपचाप बिना उकताहट जताये और बिना सुने बात सुनते रहने का उसे रुपया-धेली कुछ मिल ही जायगा। बीच-बीच में वह योग भी देता था, "हाँ सरकार, हाँ सरकार।"

फ़ौजी कहता रहा, "मैंने अपने बच्चे को देखा तक नहीं। मेरे पीछे क्या हुआ हो और क्या नहीं? घर वाली को अकेले ही सब भुगतना हुआ होगा। मैं जो लौट आया हूँ, इसका क्या भरोसा था? छन में मर भी सकता था। क्यों भाई, क्या कहते हो?"

"हाँ सरकार।"

"देखो, तुम भी यहाँ रहते हो। तुम्हें डर, न झंझट। अपना काम है, अपना घर। घर से कोसों दूर तो भटकते नहीं फिरते। न किसी की चाकरी में हो। इसमें क्या मजा है कि घर का आराम छोड़ कर दूर जायँ, मुलाजमत करें और उससे जो पैसे पावें, उसके

बल लौट कर पड़ोस पर नवाबी ठसक जमावें। क्यों भाई, है न बात ?"

वह पैसे से भी और वैसे भी भरा था और व्ययशील हो सकता था। आशा उसे उठाये थी और सामने बैठे इस निम्नवृत्ति जीव के सामने उसे अपने को बड़ा समझना और बड़ा दिखाना अच्छा लगता था। इस प्रकार अपने बड़प्पन में स्वस्थ होकर वह इस जीव के साथ भाई-चारा भी बिना खतरे के दिखा सकता था। उसने जेब से चवन्नी निकालकर सराय वाले को दी, कहा, "लो, बाल बच्चों को जलेबी खिलाना...। और देखो, घोड़ा सवेरे के लिए जीन कसकर तैयार रहे। पचास कोस की मंजिल है, हम जल्दी घर पहुँचना चाहते हैं।"

भठियारे ने ज़मीन की ओर सिर झुकाया, कहा, "अच्छा सरकार।"

शाम होने पर ज़रा इधर-उधर घूमा, रात बुलाई और खाना खा-पीकर सोने की चेष्टा करने लगा। सोचता था—सवेरे ही उठ कर गज़रदम वह चल देगा।

जब रात सुनसान थी और वह गाढ़ी नींद सो रहा था। तभी एक व्याघात उपस्थित हुआ। पास ही कहीं से एक बच्चे के रोने की आवाज़ सुन पड़ी। उस बच्चे की माँ उसे बहुत मनाती थी; पर वह मानता नहीं था। शायद भूखा हो या हठीला। कभी माँ उसे झिड़कती थी, कभी पुचकारती थी। लेकिन बच्चा अच्छी तरह चुप नहीं हो रहा था।

बच्चे के लगातार रोने की वह आवाज़ उस सन्नाटे में उसे बेहद अशुभ मालूम हुई। जो पत्नी से मिलने का सुख-स्वप्न देख रहा था, वह उचट गया। यह बेमतलब का क्रन्दन, बेराग, बे-स्वर,

सन्नाटे को चीरकर आता हुआ उसके कानों को बहुत अप्रिय लगा। पहले तो उसने चाहा कि वह सह ले और सो जाय। पर नींद असम्भव हो गई थी और वह राग रुकता न था। आखिर झल्लाकर जोर की आवाज़ से उसने भठियारे को बुलाया। भठियारा डरता हुआ आया और उसने उससे पूछा, "यह कैसा शोर है?"

"हजूर, एक बच्चा है...।"

"बच्चा है तो बदशऊर चुप क्यों नहीं रहता?

"हजूर, बीमार होगा।"

"बीमार है, तो उसके लिए यह जगह है? क्यों बीमार है?"

भठियारा चुप।

"साथ उसके माँ है?"

"हाँ हुजूर, है। वे कल यहाँ से चले जाने को कहते हैं!"

उससे कहो, "बच्चे को चुप करे, नहीं तो हमारी नींद में ख़लल पड़ता है। चलो, जाओ।"

थोड़ी देर में भटियारे ने लौटकर बताया कि बच्चे की तबीयत खराब है और भूखा भी है। मैंने डाँटकर कह दिया है। देखिए, जल्दी चुप हो जायगा।

लेकिन बच्चे का रोना जारी रहा। बच्चा और उसकी माँ कहीं पास ही की कोठरी में थे। यह भी सुन पड़ा कि उसकी माँ ने बच्चे के दो-तीन चपत जमाये हैं। लेकिन इस पर बच्चे का चिल्लाना कुछ और प्रबल ही हो गया है।

"मर अभागे, तू मुझे और क्या क्या दिखावेगा?"—सुन पड़ा, माँ ने ऐसा कहा है और कहकर वह सिसकने लगी है।

सिपाही ने फिर नींद लेने की कोशिश की। पर बच्चे का चीख़ना उसी तरह जारी था। एक स्त्री की सिसक और एक बच्चे की चीख

सिर पर अगर चलती ही रहे, तो क्या चैन आसान है? तो क्या उसको सहना सहज है? सो सिपाही की सहन-शक्ति की पराकाष्ठा जल्दी आ गई। फिर भठियारे को बुलाया, "यह बद-नसीब चीख़ना नहीं छोड़ेगा? उसे निकालो यहाँ से।"

"हुजूर, गरीब है। कुछ घंटों की बात है, सबेरा होते वह भी अपना रास्ता लेगी; हुजूर को भी तशरीफ़ ले जाना है।"

"नहीं, नहीं बीमारों के लिए यह जगह नहीं है। हम कहते हैं, उससे अभी कहो, निकल जाय। सोने ही नहीं देता।"

"हुजूर, इतनी रात को वह कहाँ जायगी!"

"कहाँ जायगी? क्यों सारी दुनिया तेरी सराय के ऊपर है? अस्तबल में रक्खो, कहीं रक्खो, जहाँ से शोर हमें बिल्कुल न आए। समझे?"

सरायवाला इसको पैसे वाला जान नाखुश नहीं करना चाहता था। उसे प्राप्ति की करारी आशा थी। उसने बच्चे की माँ के पास जाकर कहा, "बराबर में एक फौज के सरदार ठहरे हैं। बच्चे के रोने से उनकी नींद में ख़लल पड़ता है। अगर बच्चा चुप नहीं हो सकता, तो उसे यहाँ से ले जाओ।"

स्त्री ने गिड़गिड़ा कर कहा, "बच्चे की ऐसी हालत में मैं उसे और कहाँ ले जाऊँ? जाड़ों के दिन हैं, आधी रात हो गई है। कुछ घंटे और ठहरो मालिक, तड़का होते ही मैं चली जाऊँगी।"

भठियारे ने कहा, "नहीं, तुम अभी चली जाओ। नहीं तो वह ख़फा होंगे।"

स्त्री ने कहा, "उन सरदार जी से हाथ जोड़कर कहो, मैं दुखिया हूँ। थोड़ी देर के लिए और मेहरबानी करें। बच्चे के बाप

का पता नहीं है। अब इसको कहाँ ढकेल दूँ? पौ फटते ही चल दूँगी।"

भठियारे के मन में न था कि यह जाय, पर सरकार की ख़फ़गी का उसे डर था।

उसने कहा, "माई, किनारे का अस्तबल है, वह मैं तुम्हें बताये देता हूँ। रात वहीं काटो। तुम देखती नहीं हो, इससे मेरी रोज़ी पर ख़तरा आता है।"

इस पर उसने गोद से बच्चे को उठाकर दूर ढकेल दिया, कहा, "लो, इसे ले जाके उनके पैरों में डाल दो, वह जूते से इसका ढेर कर दें। मैं फिर चली जाऊँगी।"

इतना कहकर वह दोनों हाथों में अपने सिर को लेकर धीरे-धीरे रोने लगी। उधर फ़र्श पर पड़ा बच्चा जोर से चीख़ रहा था।

सराय-वाला इस पर सहमा-सा रह गया। उसने लौट आकर कहा, "हुजूर, कुछ घंटों की और बात है। आप उसे माफ कर दें। वह बहुत दुखिया मालूम होती है।"

इस आदमी को ऐसा लगा कि उसके हुक्म की अवहेलना हो रही है। वह अपने कमरे में टहलता हुआ, जो कहन-सुनन भठियारे और बच्चे की माँ के बीच में हुआ, सब सुन रहा था। उसके मन को आराम नहीं मिल रहा था। उसको बुरा मालूम हो रहा था कि क्यों वह इस गन्दी परिस्थिति में पड़ गया? क्यों उसे जिद करनी चाहिए कि बच्चे को लेकर वह औरत ठीक इसी वक्त कोठरी से बाहर निकल जाय? लेकिन जब भठियारे ने उसके सामने आकर यह कहा कि उसे दया करनी चाहिए, तब मानों अपने विरुद्ध होकर उसने जोर से कहा, "तुमसे इतना नहीं होता और तुम अपने को

मर्द समझते हो ? चलो हटो।" और ज़ोर से धरती को कुचलता हुआ वह उस ओर चला, जिधर से बच्चे की आवाज़ आ रही थी।

कोठरी में दिया मद्धम जल रहा था और दोनों हाथों में माथा थामे एक औरत बैठी थी। पास नंगी धरती पर पड़ा हुआ बच्चा चिल्ला रहा था।

"अन्दर कौन है ?"

अन्दर से कोई नहीं बोला।

इस व्यक्ति ने और ज़ोर से कहा, "हम कहते हैं, अन्दर कौन है ? क्या तू बहरी है ?"

स्त्री ज़रा ज़ोर से सिसकने लगी और चुप रही।

"देखो, तुमको इसी वक्त बच्चे को लेकर चले जाना होगा। बच्चा रोता है, तो चुप नहीं रख सकतीं, और कहते हैं, तो मुँह से जवाब नहीं फूटता !"

स्त्री चुपचाप उठी, बच्चे को उठाया और बाहर आकर उस व्यक्ति के पैरों में बच्चे को डालकर उसने कहा, "मैं चली जाती हूँ। इस बच्चे को तुम ठोकर मारकर जहाँ चाहे फेंक दो।" और वह चलने लगी।

वह व्यक्ति, जाने क्यों, एक दम सकते-से में पड़ गया। उसने कहा "ठैरो, ठैरो। कहाँ जाती हो ?"

स्त्री ने कहा, "जहाँ मौत मिले, वहीं जाती हूँ।"

व्यक्ति में एक दम परिवर्तन होने लगा। उसने पूछा, "तो भी तुम कहाँ से आ रही हो और किधर जाती हो ?

स्त्री ने कहा, "पाँच बरस से इस बच्चे का बाप नहीं लौटा। वह लड़ाई पर गया है। कौन जाने, मर गया हो। कौन जाने

शायद लौटते हुए मुझे रास्ते में ही मिल जाय। मैं उसी के पास इस बदनसीब बच्चे को ले जा रही हूँ।"

पुरुष की आँखों में आँसू आ गये। उसने अपने बच्चे को अपने पैरों पर से उठा लिया। वह अपनी स्त्री से यह भी नहीं कह सका कि तुमने मुझे पहचाना नहीं। बच्चे को चूमा-पुचकारा, और डोल-डोलकर गा-गाकर उसे मनाने लगा।

बिल्ली-बच्चा

घर में एक शरबती नाम की लड़की थी। पीछे से वह मोटी हो गई, चार बच्चों की माँ बनी और चल बसी। सुनते हैं, बड़ी होकर अपने तेज़ मिज़ाज के लिए सरनाम थी। 'सुनते हैं' मुझे इस लिए कहना होता है कि यद्यपि वह मेरी लड़की थी, पर मेरे सामने तो उसके मिज़ाज की तुरशी प्रकट होते हुए मैंने नहीं पाई। हाँ, शरीर से स्थूल, तबियत में और आदत में आराम-पसन्द वह पीछे से अवश्य हो गई।

मैं तब की बात कहता हूँ जब शरबती बहुत छोटी थी। कोई तीन वर्ष की होगी। उस समय वह बहुत दुबली-पतली थी, तोतली बोलती थी और बैन उसकी बड़ी मीठी लगती थी। लड़कियों में छुटपन से कुछ माँ-पन होता है। अपने छोटे भाई को, जिसका नाम बिज्जू भी था, बिज्जी भी था और विजयकुमार भी था, उसको वह बहुत प्यार करती थी। पैसा मिलता तो सैंतकर अपने बिज्जू के लिए रख लेती। मिठाई मिलती, तो भी स्वयं न खाकर उसी के लिए अलग धर छोड़ती। कई बार देखा गया कि आले की जिस

गोलक में संयमपूर्वक वह जिन पैसों को जमा करती रही है उनमें से अधिकांश कभी-कभी गायब भी हो गये हैं। और मिठाई अगर उसके संग्रहालय में कुछ बची भी रही है तो वह सूख-साख कर निकम्मी हो गई है। किन्तु इन बातों से पाठ सीखकर शरबती अपने स्वभाव को बदलने में नहीं लाती थी। पैसे मिलते तो फिर वहीं बटोर रखती और अपने हिस्से के खेल-खिलौने या मेवा-मिठाई भी, उसी तरह बिज्जी के लिए जमा कर छोड़ती।

इधर बिज्जू बिज्जू से कम न था। बड़ा ऊधमी लड़का था, शुरू से ही जैसे वह नवाब साहब है। शरबती का सब प्यार लेता है और बदले में उसे खूब मारता है। वह काटता है, और बहन को खूब रुलाता है। बड़ी बहन होने का जरा लिहाज नहीं करता। शरबती बेचारी खूब रोती है। रोती-रोती अम्मा के पास जाकर शिकायत करती है। पर, कुछ देर बीतती नहीं कि वही शरबती आकर कहने लगती है, "बिज्जी, ले, बर्फी नहीं लेगा ?"

बिज्जू किलकारी भर कर लपकता है और बर्फी मुँह में रखकर शरबती का मुँह खँरोचने लगता है।

जिस पर शरबती कहती है, "हट बदमाश !"

बदमाश भला क्यों हटने वाला है ! वह दोनों हाथों के पंजों से उसका ऐसा मुँह खसोटता है कि शरबती चिल्ला पड़ती है, "देख ले री, अम्मा। तू फिर मुझे कहेगी।"

पीढ़े पर बैठी अम्मा कहती है, "और खिला बर्फी। तुझे यह बड़ा निहाल करके रखेगा, जो तू इसे बर्फी खिलाती मानती नहीं।"

उसके चार महीने बाद महाशय विजयकुमार चल दिये। उन्हें बुलाने चेचक माता आ गई, और वह बचाये न बचे। पहले तो खूब बड़े-बड़े माता के दाने सारे बदन पर हो गये। देही पर कहीं

तिल रखने को ठौर न बचा। जीभ पर वही फफोले उठ आये और तालू पर भी। पलक के ऊपर भी दाने थे, वैसे ही पलक के नीचे। छह रोज तक सौ के ऊपर तीन-तीन चार-चार डिगरी बुखार उसे रहा। आँखें बन्द हो गईं और उनके ऊपर मोटे-मोटे दो फोड़े से उठ आये। महाशय विजयकुमार को तब एक छन चैन न मिली। वह न इस करवट सो पाते, न उस करवट। जिधर सोयें उधर ही समझिए, शरीर में बिंधे हुए काँटे गहरे-गहरे बिंधते थे। कल किसी तरह न थी। कण्ठ में सुर रहता, तब तक विजय बाबू चिचियाते रहते। दम न रहा, तब बेदम हो रहते थे। चेचक के दानों से विजय बाबू का कमल-सा सुन्दर मुँह ऐसा हो गया था—कि डर लगता था। आँखें उसमें नदारद थीं, चेहरे पर उठी हुई नाक कहीं भी न चीन्ह पड़ती थी, और मुँह की बात पूछिए नहीं। इस हालत में उनके पेट में न कुछ खाद्य पहुँच सकता था, न पेय। कुछ ठण्डे पानी की बूँदें जो कहिए अनुमान के सहारे मुँह पहचान कर उनके ओठों के बीच में चुआ दी जातीं, वह पानी विजय बाबू को मानो अमित ठंडक पहुँचाता। विजय बाबू जैसे तब मुस्कराना चाहते। उस मुस्कराहट को देखकर आँसू रोकना मुश्किल हो जाता था। मुँह ऐसा डरावना, फिर भी ऐसा करुण लगता था कि...

खैर, वह दूसरी कहानी है। सात-आठ रोज अपनी अम्मा की गोद में पड़े रहकर और माता चेचक की छीना-झपटी में विजय बाबू ने एक सप्ताह तो निकाला। उस सप्ताह के बाद बाबू यहाँ से लंगर तोड़, राम जाने कहाँ के लिए चल पड़े। डाक्टर भी रह गये, उनकी अम्मा भी रह गईं, हम भी रह गये। इन यों ही रह जाने वालों में शरबती का नाम सहसा नहीं आता। शायद इसलिए कि

वह अभी किसी गिनती के लायक़ न थी। किन्तु, विजय के चल देने पर वह तो जैसे एक ही दिन में चालीस वर्ष की हो गई। उसका बिज्जी ग़ायब हो गया। इस विषय में उसने न कुछ पूछा, न ताछा। वह बिल्कुल नहीं रोई। जब खाना दिया, खाना खा लिया, और काम कहा काम कर दिया। पर उसका हँसना उड़ गया था। न वह अब मचलती थी, न शिकायत करती थी।

मैंने कहा, "बेटा शरबत!"

उसके मुँह पर सुन कर कोई लाली नहीं आई। वह मेरे पास आ गई, आकर खड़ी हो गई। मानो कह रही हो, "बाबूजी, मुझे गोद में लेना चाहते हो तो ले लो। मैं खड़ी हूँ। मैं सामने हूँ तो।"

मैंने उसे गोद में खींचकर कहा, "बेटा शरबत!" ठोड़ी में डालकर कहा, "बेटा सरो, क्या बात है?"

उस समय वह रो पड़ती तो मेरा चित्त हल्का हो जाता। वह न रोई, न कुछ बोली। मैंने गोद में निकट खींच कर उसे चूमा, पुचकारा। मैंने कहा, "बेटा, बिज्जो तुझे याद आता है? वह तो चला गया, बेटा।"

मेरा हृदय यह कहते-कहते आप ही भर आया। यह बात मुँह से निकालने का साहस मैंने जान-बूझकर किया था, जिससे कि लड़की रोए तो। किन्तु वे शब्द निकलते-निकलते मुझे भी भर लाये। मैंने देखा कि वह शरबती के भीतर तक भी गये हैं कि शरबती अभी सुबक उठेगी। मुझे उसके चेहरे पर दीखा कि उसके भीतर जैसे जम गई हुई वेदना छिड़ उठी है। वहाँ जैसे व्यथा में कुछ मन्थन हो उठा है। जैसे कि तट से फूट कर कुछ अवश्य बहेगा। लेकिन तट पर आ-आकर भी आँसू तट लाँघकर नहीं आए। वह नहीं रोई।

उसकी माँ इस बात पर भय से भर उठी। शरबती को एक साथ ऐसी बुद्धिमती हो जाते देखकर उसकी माँ अत्यन्त कातर हो गई। शरबती का मन नहीं बहला, नहीं भरमा, और वह खाली भी नहीं हुई। वह ऐसी भरी रही कि कूल को तोड़ कर बहने की उसमें आवश्यकता न प्रकट हो सकी। उसकी माँ ने आतङ्क से भर कर मुझ से बार-बार कहा, "अरे, क्या वह भी मुझे छोड़कर चली जायगी ? उसे क्या हो गया है ? तुम बताओ न, मैं क्या करूँ ?"

किन्तु मैं क्या बताता।

तीन रोज़ खींच कर चौथे दिन शरबती खाट पर गिर गई। उसे बुखार हो आया। देखते-देखते बुखार बहुत तेज़ हो गया। वह बेहोश हो जाती और बड़बड़ाने लगती। उसकी माँ की चिन्ता का ठिकाना न था। डाक्टर भी आये, हकीम और वैद्य भी आये। पर, बच्ची की बेकली कम होने में न आई। बेहोशी सबेरे के घंटों में कुछ उतरी पाती, उस समय गुम-सुम शरबती कमरे की छत की ओर देखती, या दीवार की ओर देखती। तब वह अपनी माँ को भी पहचानती थी, मुझे भी पहचानती थी। पर हमारे लिए मानो उसे कुछ कहना न था। हमें सूनी आँखों से देखती और उसी भाँति दृष्टि लौटा लेकर उन्हीं आँखों से वह दीवार की ओर देखने लगती।

मैं पुकारता, "बेटा शरबत !"

माँ पुकारती, "ओ सत्तो ! ओ मेरी बिटिया रानी ! ओ, मेरे बेटे राजा !"

शरबती सुनकर चौंकती और आँखें फैलाकर हम को देखती रहती।

वह बहुत ही दुबली हो गई थी। शरीर में सींक-सी हड्डियाँ

बची थीं। उस समय जब कभी सोते-सोते वह मुस्कराती थी, तब देखकर मन आनन्द के साथ ही बड़ी व्यथा और आशंका से भर आता था। पर नींद उसे बहुत कम आती थी। इतनी कल ही उसे कब पड़ती थी कि नींद आए। अधिकतर बेहोशी की ही नींद उसे आती थीं। उस बेहोशी में प्रलाप जारी रहता, जो उसमें से मानो बची-खुची शक्ति को खींचकर उलीच रहा था।

ऐसे ही दुविधा में सात रोज़ बीते। उसकी माँ सब सुध बिसार कर सब काल उसी के सिरहाने बैठी रहती थी। जब बच्ची की पलकें कभी कुछ देर को लग आतीं तभी उसके खटोले की पट्टी को वह छोड़ती थी।

तब धीरे-धीरे थपका कर वह मुन्नी की नींद को मानो उन पलकों पर जमा देती, और जब नींद जम जाती तब फिर अचक पाँव धरती हुई वहाँ से वह कहीं जाती।

बच्ची की हालत गिरती ही गई। जीने की चाह ही जैसे भीतर से धीमी होती जा रही थी। डाक्टर हारने लगे और हकीम-वैदों की समझ में भी कुछ बात ठीक न बैठी। बस, बच्ची की अम्मा का जी ही इस बारे में पक्का था कि मुन्नी को जीना होगा।

बुखार तो कट गया था, पर शरीर छीजता ही जाता था। पथ्य कोई लगता ही न था। मानो अब तो वह अपनी माँ की सदभिलाषाओं पर और उसके संकल्प के बल पर ही जी रही थी।

एक रोज़ शरबती की आँख छब्बीस घंटे के बाद कहीं जाकर लगी, तब माँ ज़रा उसे छोड़कर नित्य-कर्म से तनिक निवृत्ति पाने के लिए उठ कर उठी। पर इस बीच भी वह हर तरह की आहट के प्रति चौकन्नी रह रही थी। थोड़ी देर में उस ओर से किसी की बारीक चिचियाने की आवाज़ उसने सुनी। वह भागी गई कि

देखती है कहीं से मुन्नी के खटोले पर नन्हा-सा बिल्ली का बच्चा एक आ गया है। मुन्नी ने दोनों हाथों की मुट्ठियों में उसे ज़ोर से दबोच कर रखा है और वह कीं-कीं कर रहा है।

अम्मा को आते देखकर ही मुन्नी ने कहा, "अम्मा, बिल्ली-बच्चा!"

उस समय उसके चेहरे पर जैसे कुछ लौटी हुई सुधि की आभा दीखी। और मानो यह कहते-कहते बच्चे पर से उसकी उँगलियाँ कहीं कुछ ढीली न हो गई हों, और भी उसे दबोच कर मुन्नी ने कहा, "अम्मा, बिल्ली बच्चा!"

बिल्ली के बच्चे ने और भी ज़ोर से किया, "कीं-कीं-कीं"। फिर भी मानो वह अपने पर क़ाबिज़ उस स्वामित्व से बिछुड़ना न चाहता था।

बिल्ली का बच्चा सूखा-सा था। मानो किसी ने अभी मुँह में लेकर उसे बुरी तरह झकझोर दिया हो, वह सहमा हुआ था।

मुन्नी ने कहा, "अम्मा, दूधू।"

अम्मा ने खुश हो पड़ कर कहा, "दूध पियेगी बेटा?"

मुन्नी ने बिल्ली-बच्चे को दिखा कर कहा, "बिल्ली-बच्चा, अम्मा।"

माँ ने डर कर कहा, "बेटा, उसे छोड़ दे, पंजे-वंजे मार देगा।"

और माँ उसके हाथ में से बच्चे को ले लेने के लिए आगे बढ़ी।

मुन्नी ने अपनी मुट्ठियों को मजबूत कर लिया। उसके चेहरे पर दीखा, मानो कि वह मुकाबिला करेगी। और बच्चा ज़ोर से कींका।

माँ पास आते-आते रुक गई, धीमी और स्निग्ध वाणी से बोली, "बेटा, उसे छोड़ दे। जानवर है, पंजे-वंजे गाड़ देगा।"

मुन्नी ने कहा, "अम्मा, बिल्ली-बच्चा दूधू पीए। कहकर बच्चे को जोर से उसने अपनी छाती में खींच लिया।"

माँ लौटकर एक कटोरी में दूध ले आई।

मुन्नी ने बच्चे को गर्दन से दबोच कर उसका मुँह कटोरी में करते हुआ कहा, "पी, दूधू पी, बिल्ली-बच्चे।"

लेकिन बच्चा अपनी गर्दन छुटाने में अधिक आग्रही रहा, दूध की ओर समुत्सुक नहीं हुआ। मुन्नी ने तीन-चार थप्पड़ उसको जमाये, कहा, "नहीं पिएगा, ऐं ? नहीं पिएगा ?—पी, पी।"

पीट-पाटकर जब फिर उसका मुँह कटोरी में किया तब भी बच्चा हठ पर ही कायम दीखा। उसने दूध पिया ही नहीं। मुन्नी ने उसको उस समय बड़े प्यार से थपका, उसके बदन को सहलाया, उसके मुँह को अपने मुँह के पास ले जाकर प्यार किया, उसके गालों को अपने गालों से रगड़कर कहा, "पी ले मेरे, बिल्ली-बच्चे, मेरे बच्चे। कहकर उसके मुँह का चुम्बन भी लिया।"

इस बार बिल्ली का बच्चा अपनी छोटी-सी जीभ निकाल कर कटोरी का दूध चाट कर पीने लगा। लड़की को यह देखकर बड़ा कुतूहल हुआ, उसमें इस बच्चे के लिए स्नेह जाग आया।

फिर तो अनायास ही जीवन का स्नेह भी उसमें खोया न रहा। उस दिन से वह अच्छी होने लगी। हमेशा बिल्ली-बच्चे को अपने पास चिपटा कर ही सोती। जगने पर कभी वह न मिलता तो उसे पाये बिना न खुद चैन लेती, न हमें चैन लेने देती।

उसके बाद तो आप जानते ही हैं कि एक दिन वह भी आया कि वह फल-फूलकर खूब मोटी भी हो गई।

'हंस' का अनुरोध पाया कि कहानी लिखो। कहानी लिखने को तैयार होकर सोचता हूँ, क्या लिखना होगा। उसी समय तार

वाला आकर एक तार दे गया। परमात्मा की दया देखो कि कैसी विचित्र है। तार में है कि शरबती मर गई है। तार वाला अभी गया है। शरबती मेरी अपनी बेटी थी। इकलौती तो आप यों न कहने देंगे कि विजय भी मुझे मिला था, जो बचपन में ही मुझ से लुट भी गया। तो भी लगभग जीवन-भर शरबती को इकलौती ही समझता आया हूँ। छोटे-छोटे चार बच्चे छोड़ गई है। खैर... तार पाकर मुझे बिल्ली-बच्चे की बात याद हो आई। सो आपको सुना दी है।

मुझे आशा है, कहानी-सुनकर आप कहानी-लेखक होने से सदा बचेंगे।

रामू की दादी

रामू की दादी ने उठकर जो तकिए के नीचे टटोला, तो पाया-दा हैं। एक गिन्नी गुम हो गई है। उनकी वृद्ध देह इस पर ममता से भर आई। उठ बैठीं, बिस्तर खखोल डाला, यहाँ देखा, वहाँ देखा। पर, गिन्नी बिल्कुल गायब थी। अब गिन्नी गिन्नी है। और आज यह गिन्नी होना अपने में किसी तरह कम बात नहीं है। तिस पर चीजों के लापता हो जाने का सिलसिला ही उठकर यों चल पड़ने का नाम ले लेगा, तो हद कहाँ मिलेगी। रामू की दादी सोचने लगी, आखिर गिन्नी हो क्या गई होगी।

उससे आदमी के मन में पंख भले लग जायँ, पर गिन्नी चीज़ वज़नदार है, इज्जतदार है, आदमी सरीखी जानकी वह नहीं बनी, और खोटी नहीं है; सच्चे सोने की वह बनी है और ठोस है। इससे तकिए के नीचे से वह यदि एकदम अलभ्य बन गई है, तो किसी भाँति स्वयं उस पर सन्देह नहीं किया जा सकता, उसके लिए किसी आदमी को पाना होगा।

"ऐसा कौन गिन्नी ले सकता है ?"—दादी ने सोचा—रधिया चौके और दालान से उठ कर इधर आई नहीं। और अभी घण्टा भर हुए ही तो मैंने सम्भाल कर रक्खीं थीं। कहीं गिर ही तो नहीं गई ? देखूँ।

उसने देखा—

अब बात यह है कि एक नाम भीतर से उठ कर ऊपर आना चाह रहा है। पर जैसे उस नाम को इस सम्बन्ध में अपने सामने पाना उसे पातक लगता है, यह किसी तरह सिद्ध हो जाय कि गिन्नी गिर ही पड़ी थी। उसके मन में यह निरन्तर बज रहा है कि "ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है, है।" "गिरी नहीं है और चोरी करने वाला वही एक है" पर इसी बात को अपने निकट अस्वीकृत करने के लिए उसने फिर खोजा और फिर देखा।—पर, गिन्नी को न मिलना था, न मिली।

रमचन्ना पर अविश्वास करना उसे स्वयं अपने प्रति लाँछन मालूम होता है। पर कितना ही सोच देखे, क्या कोई और है जो इस बीच उसकी कोठरी में आया गया है, और जिसके लिए तनिक भी सम्भावना है कि गिन्नियों के अस्तित्व को जाने ?

रामचरण, अर्थात्—रमचन्ना, बारह बरस की उमर से इनके यहाँ नौकर है। अब उसकी अवस्था तीस पर पहुँचती होगी। यों तो यही उमर है जब गिन्नी की क़ीमत की आदमी को खूब पहचान हो; पर ठीक यही उमर भी है, जब रामू की दादी को वह अतीव आकर्षक, प्रिय और अनिवार्य लगता है।

रमचन्ना बेहद घर का आदमी है। इस घर के काम या ज़रूरत के मौक़े पर वह सदा ऐसे ही काम आता रहा है, जैसे सोने का ज़ेवर। छोटे से यहीं बड़ा हुआ है। उसका ब्याह इसी घर के लोगों

ने कराया, और अब विधुर है, तो फिर इस परिवार के लोग झट-पट उसका ब्याह करा देने को उत्सुक हैं। और तीन बरस का रामू तो बस इसी का है। उसे जब देखो, तब रमचन्ना। दादी की गोद में से पूरी तरह आँख खोल कर उठा नहीं कि—रमचन्ना। इस रमचन्ना की कमर और कन्धे पाकर इस काठ के उल्लू रामू को यह भी पता नहीं है कि कोई माँ भी होती है, जो उसके नहीं है। और कोई बाप भी होता है जो भी लगभग उसके नहीं है। जब से इस रामू का बाप इस दुनिया से रामू की माँ को खोकर और महीने-भर के इस नन्हें से रामू को दादी के ऊपर छोड़कर विलायत जाकर रम रहा, तभी से शनैः शनैः यह रमचन्ना उस दादी के निकट नौकर कम होता गया और बेटा ही ज्यादा-से-ज्यादा होता गया।

"रमचन्ना, और घर में ही सेंध लगाए!"—दादी अत्यन्त विपन्न भाव से सोचने लगीं, "उसे क्या नहीं मिला? और वह और क्या चाहता है, जो कहकर नहीं पा सकता? लेकिन यह बहुत खराब बात है, और आज इसे तरह दे दूँ, तो कल और कुछ भी हो सकता है। और मैं नहीं चाहती, यह लड़का रमचन्ना चोर बनकर जेल में सड़े।"

दादी ने जोर से आवाज़ दी, "रमचन्ना!"

आवाज़ से पास सोये रामू की नींद को आघात हुआ। उसने चौंककर दोने-सी बड़ी-बड़ी अपनी कोरी आँखें ज़रा खोलीं और फिर मींच कर करवट ले दादी की छाती से लगकर सो रहा।

दादी ने पुकारा, "रमचन्ना!"

रामचरण भीतर आया और दादी की खाट के पास खड़ा होकर हँसते हुए बोला, "हमारे रामजी सो रहे हैं! क्या है,

अम्माँजी ? लाओ, इसे बाज़ार से रेवड़ी दिला लाऊँ, बहुत सो लिया ।"

यह लड़का चोरी करेगा और फिर इस तरह से सामने आकर कनेगा भी । दादी कठिन होगई, और तुरन्त कुछ बोल नहीं सकीं ।

रामचरण ने देखा, कहीं कुछ ग़लत है । उसने हठात् कहा, "उठो रामचन्द्रजी, भोर हो गई ।"

और रामू ने झट आँखें खोल लीं, बाँहें फैला कर कहा, "लमअन्ना ।"

वह बढ़कर रामू को गोद में उठा ही लेना चाहता था कि दादी ने कहा, "ठहर रे रमचन्ने !"

बच्चा सहम कर रह गया और इस पर दादी का मन भीतर से और भी कठिन हो आया । इस समय उसके मन को बड़ा क्लेश था ।

"ठहर रमचन्ने,"—दादी ने कहा, "पहले बता, तैंने यहाँ से गिन्नी ली है ?"

"कैसी गिन्नी अम्माँजी ?" रमचन्ना ने हँसकर कहा और झुका कि रामू को गोद में ले ले ।

"मैं कहती हूँ, तैंने यहाँ से गिन्नी नहीं ली ? सच बोल नहीं ली ?"

रामचरण चुप ।

दादी ने कहा, "मैं जानती हूँ, तैंने ली है । मैं तो सोचती थी, तुझ से कहूँ कि अगर तुझे ज़रूरत है, तो मुझ से क्यों नहीं कहता । एक छोड़ क्या दो गिन्नी मैं तुझे नहीं दे सकती ? पर, क्यों रे, तू अब ऐसा हो गया है कि पहले तो चोरी करे, फिर उसे कहे नहीं, और पूछें तो चुप हो जाय ?"

रामचरण चुप रहा। बुढ़िया सोचती थी कि अगर यह हाँ कह दे, तो इससे गिन्नी वह वापिस नहीं लेगी। इसमें उसे सन्देह न था कि अगर और कुछ नहीं होता, तो वह खुलकर यही कह दे कि उसने नहीं ली। तब वह उसे छोड़कर कहेगी, "अच्छी बात है, नहीं ली। तो जाओ खोजो, वह कहाँ गई।" वह इसके लिए भी तैयार हो सकती थी कि इसी में कुछ दिन निकल जायँ और फिर बात आई-गई हो जाय; लेकिन यह जो रमचन्ना सामने गुम-सुम खड़ा है, पूरी तरह खुलकर बात भी नहीं कर सकता, जैसे उसे मैं खा जाऊँगी, यही उसे बड़ा बुरा लग रहा था। कहा—

"अरे, बोल ! कुछ मुँह से कहता क्यों नहीं ?"

रामू ने दादी का हाथ पकड़ कर कहा, "अम्माँजी, अम लेबली खायेंगे।"

हाथ से रामू को अलग झिटककर दादी ने कहा, "हरामी, राकशस, बोलता क्यों नहीं ?"

बिल्कुल खोए-से बैठे रामू को देखता हुआ रामचरण चुप हो रहा।

दादी का सारा शरीर काँप कर थर्राने लगा। उन्होंने हिलते हुए हाथ को उठाकर चीखकर कहा, "नमकहराम ! निकल जा मेरे यहाँ से ! (और तभी जरा मद्धम भी वह पड़ गई।) हम कहते हैं, बोल, बात का जवाब दे, सो उसमें इसकी मौत आती है !"

रामचरण ने कहा, "अच्छा माँजी, मैं चला जाता हूँ।"

रामू बोला, "लमअन्ना।"

दादी ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर, मुँह बिगाड़ कर कहा।—

"माँजी, म्यें चिल्या जाता हूँ।" क्यों एक गिन्नी से तेरा भर गया पूरा पेट, जो चला जाता है ? चल मुझे नहीं चाहिए तेरी

गिन्नी, अपने पास ही रख और निकल जा इसी दम मेरे यहाँ से, बदमाश के बच्चे !"

उसने हाथ जोड़कर कहा, "अच्छा माँजी, तो मैं चला जा रहा हूँ।"

"हाँ, जा, जा, जा !"—चिल्लाकर दादी ने कहा, "मेरा दम तोड़ने यहाँ क्यों खड़ा है ? जा, टल।"

अत्यन्त उद्धत होकर, मचलने को तैयार, रामू ने कहा, "लमअन्ना, अम लेबली खायेंगे।"

रामचरण मुँह झुका बाहर निकलता चला आया। रामू को देखा भी नहीं।

रामू सुध-बुध खोया-सा चुप बैठा रहा और रामचरण बिल्कुल ओझल हो गया, तो बिना कुछ कहे वह लातों और थप्पड़ों से दादी को मारने लगा।

इस रामू की मार को खाकर दादी में धन्य आनन्द का भाव ही उठा है; पर इस बार दादी ने जोर से दो चपत उसकी कनपटी पर जड़ कर कहा, "चुप बैठ सूअर के बच्चे !" और धक्के से उसे वहीं खाट पर लुढ़का कर बुढ़िया दादी झटके से उठ कर चलने लगी।

रामू सिसक-सिसककर रोने लगा।

उसके रोने की आवाज़ सुनकर फिर लौटीं और सिसकते बच्चे की पीठ पर और धौल जमाकर कहा, "रोता है ? ले रो !"—एक थप्पड़ और रख दिया।

फिर तेज़ी से चलकर भीतर की कोठरी में घुस गईं। वहाँ एक मटके में से गूदड़ निकाला और फिर दो मुट्ठी रुपए। उन्हें गिना, और फिर एक मुट्ठी और निकाले। पचास के ऊपर भी

पाँच रुपए उसके हाथ में रहते थे, वह पूरे पचास चाहती थीं। लेकिन गुस्से में अब वह पाँच अतिरिक्त रुपए वापिस मटके में नहीं रख सकीं और उसमें ज़ोर-ज़ोर से वही गूदड़ ठूँसकर भर दिया।

लौटकर चिल्लाईं, "रधिया, रधिया! अरी ओ कम्बख्त की बच्ची, सुनती है?"

रधिया जब गीले हाथों को लेकर सामने आई, तो दादी ने कहा, "तू बहरी है, जो इतनी देर से चीख रही हूँ और तू सुनती नहीं है? ले ये रुपए। वह रमचन्ने का बच्चा अभी बाहर ही होगा। अभी जा। ये सब रुपए, उसके सिर पै मारकर आ। कहना, मुझे नहीं चाहिए उसकी गिन्नी और कहना, मैं अब उसका मुँह न देखूँ, और जो उसने रामू की तरफ कभी देखा, तो अपनी खैर न समझे। देखती क्या खड़ी है, जाती क्यों नहीं? समझ लिया न, सिर पर देकर मारियो। चल, जा।"

वहीं लौटीं तो सोचती थीं कि वह रामू बदमाश, ऐसे थोड़े ही हाथ आयगा, बिना पीटे वह ठीक न होगा। लेकिन गईं तो देखा, वह सो गया है, और आँसू उसके गाल पर से अभी नहीं सूखे हैं। इस बिना माँ-बाप के बेटे को अपनी छाती में भरकर, चूमकर, वह रोने लगीं। पहले तो इस आकस्मिक उपद्रव पर चौंककर, और दादी को देखकर वह बच्चा भी चिल्लाया, और फिर आँसू ढारती दादी का मुँह निहारकर वह अपने छोटे-छोटे दोनों हाथों से दादी की ठोडी के साथ खेलने लगा। और दादी के आँसू और भी अटूट होकर झरने लगे।